वर्ष 2 ■ अंक 1 ■ आश्विन–कार्तिक–मार्गशीर्ष, 5121 कलि. ■ जनवरी–फरवरी–मार्च, 2020 ई.

सभ्यता संवाद

शिक्षा को भारतीय बनाने की चुनौतियां

भारतीय उच्च शिक्षा की दशा व दिशा
डॉ. ओंकार नाथ

भारत में विज्ञान शिक्षण चुनौतियाँ और संभावनाएं
रवि शंकर

प्राचीन भारत में शिक्षण की विधा और नियमन
डॉ. विवेक भटनागर

गुरुकुल शिक्षा की प्रासंगिकता
उपेंद्र राय

औपनिवेशिक शिक्षा की वाहक एनसीईआरटी
डॉ. चंद्रकांत राजू

कितना सटीक है अकादमिक अर्थशास्त्र?
प्रशांत सिंह

पुनर्पाठ : शिक्षा की स्वतन्त्रता
वैद्य गुरुदत्त

पुस्तक समीक्षा : प्राचीन भारत की शिक्षा व्यवस्था का समग्र निरूपण
ईष्टदेव सांकृत्यायन

एनसीईआरटी समीक्षा : जीवन का विज्ञान सिखाएं
रवि शंकर

व्यक्तित्व : राजा राममोहन राय
डॉ. शैलेन्द्र कुमार

सभ्यता अध्ययन केंद्र

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः

सभ्यता अध्ययन केन्द्र की त्रैमासिक शोध–पत्रिका

आगामी अंकों के संभावित विषय

अप्रैल-मई-जून, 2020 अंक
संचार और सभ्यतामूलक विमर्श

- मीडिया नैतिकता का भारतीय परिप्रेक्ष्य
- संचार की भारतीय अवधारणा
- भारतीय संचारक और उनकी अवधारणाएं
- सभ्यतागत संघर्ष और भारतीय मीडिया
- संचार व्यवस्था और मंदिर
- सिनेमाई संचार और भारतीयता
- सोशल मीडिया : प्रभाव, सीमाएं और सावधानियां
- संचार, शासन और लोकतंत्र
- संचार माध्यम और राष्ट्रीय भावना

जुलाई-अगस्त-सितम्बर, 2020 अंक
क्या हो शोध की भारतीय दिशा ?

- शोध कार्य और मानव विकास
- क्या है भारतीय शोध दृष्टि?
- आधुनिक शोध प्रणाली की सीमाएं
- भारत में शोध कार्यों की वर्तमान स्थिति
- शोध क्षेत्र की प्राथमिकताए
- भारतीय धर्म व्यवस्था : स्वरूप और पुनर्प्रतिष्ठा
- भारतीय शिक्षण व्यवस्था : स्वरूप और पुनर्प्रतिष्ठा
- भारतीय पोषण व्यवस्था : स्वरूप और पुनर्प्रतिष्ठा
- भारतीय रक्षण व्यवस्था : स्वरूप और पुनर्प्रतिष्ठा

सभ्यता संवाद

वर्ष 2, आश्विन–कार्तिक–मार्गशीर्ष, 5121 कलि.
जनवरी–फरवरी–मार्च, 2020 ई., अंक 1

मार्गदर्शक–मण्डल
डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय   श्री सुबोध कुमार   प्रो. रामेश्वर प्रसाद मिश्र पंकज
प्रो. राजकुमार भाटिया   डॉ. आनंद बर्धन

•

सम्पादकीय सलाहकार
श्री आशुतोष भटनागर   श्री ऋतेश पाठक   डॉ. विवेक भटनागर

•

सम्पादक
रवि शंकर

•

कार्यकारी संपादक
गुंजन अग्रवाल

•

सह सम्पादक
धीप्रज्ञ द्विवेदी   ओमकार नाथ   ममता रानी   स्वाती शाकम्भरी

•

प्रबन्ध सम्पादक
जगत मोहन श्यामसुंदर तिवारी

•

प्रचार–प्रसार प्रमुख
शुभ्रा सिंह (मोः 0901783196)

•

सम्पादकीय कार्यालय
सभ्यता अध्ययन केन्द्र
बी14, गली. नं. 13, वजीराबाद गांव, दिल्ली–110084
दूरभाष : 9899588033, ई-मेल : sabhyatasamvad@gmail.com
www.civilisationalstudies.org
फेसबुक : https://www.facebook.com/sabhyatasamvad/

सभ्यता संवाद में प्रकाशित निबन्धों में प्रतिपादित विचारों और तथ्यों का उत्तरदायित्व निबन्ध–लेखकों का है और उनसे सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली/नयी दिल्ली सक्षम अदालतों और मंचों के क्षेत्राधिकार के अधीन है।

प्रकाशक सभ्यता अध्ययन केन्द्र के लिए स्वामी रवि शंकर द्वारा बी–14, गली नं. 13, वजीराबाद गॉव, दिल्ली–110084 से प्रकाशित एवं प्रिंट–वे, 182 एफआईई, पटपड़गंज, इण्डस्ट्रियल एरिया, नयी दिल्ली–110092 से मुद्रित।

इस अंक में...

- भारतीय उच्च शिक्षा की दशा व दिशा — 07
  डॉ. ओंकार नाथ
- भारत में विज्ञान शिक्षण चुनौतियाँ और संभावनाएं — 21
  रवि शंकर
- प्राचीन भारत में शिक्षण की विधा और नियमन — 34
  डॉ. विवेक भटनागर
- गुरुकुल शिक्षा की प्रासंगिकता — 40
  उपेंद्र राय
- औपनिवेशिक शिक्षा की वाहक एनसीईआरटी — 46
  डॉ. चंद्रकांत राजू
- कितना सटीक है अकादमिक अर्थशास्त्र? — 54
  प्रशांत सिंह

स्थायी स्तंभ

पुनर्पाठ

- शिक्षा की स्वतन्त्रता — 62
  वैद्य गुरुदत्त

पुस्तक विमर्श

- प्राचीन भारत की शिक्षा व्यवस्था का समग्र निरूपण — 67
  इष्ट देव सांकृत्यायन

एनसीईआरटी समीक्षा

- जीवन का विज्ञान सिखाएं — 73
  रवि शंकर

व्यक्तित्व

- राजा राममोहन राय – एक रहस्यमय व्यक्तित्व — 81
  डॉ. शैलेन्द्र कुमार

संपादकीय

शिक्षा के भारतीयकरण के उपाय

भारतीय परंपरा में शिक्षा हमेशा राज्य के नियंत्रण से मुक्त रही है। आज भी यदि शिक्षा को सार्थक बनाना है तो उसे राज्य के नियंत्रण से मुक्त करना होगा। यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए भारत के इतिहास में सर्वप्रथम अंग्रेजों ने अपने राज्य को मजबूत करने के लिए शिक्षा को राज्य के नियंत्रण में लेना प्रारंभ किया था। अंग्रेजों के इस काम को ही स्वाधीनता के बाद और मजबूती से लागू किया गया। वर्तमान में राज्यनियंत्रित शिक्षा के कारण शिक्षण संस्थानों में देशविरोधी वातावरण बन रहा है। राज्य अपनी अथवा अपने समर्थकों की विचारधारा को शिक्षण संस्थानों पर जबरन थोप रहा है। यही कारण है कि भारत से अनभिज्ञ लेखकों की लिखी किताबों को ही शैक्षणिक संस्थाओं में पढ़ाने का निर्देश है। शासन के शिक्षा पर एकाधिकार होने के कारण उनसे भिन्न मत की पुस्तकें लिखी नहीं जाती और यदि कोई लिखे भी तो उन्हें शिक्षण संस्थानों में स्थान नहीं मिलता। इस प्रकार राज्यनियंत्रित शिक्षा के कारण ही देश में औपनिवेशिक नीतियां मजबूत और हावी हो रही है।

शिक्षा को राज्य से मुक्त करने के तरीकों पर विचार किया जाना चाहिए। वर्तमान समय में जो भी विद्यालय या गुरुकुल राज्य के नियंत्रण से बाहर हैं और उसकी नीति के अनुसार नहीं चलाए जा रहे हैं, वहाँ से अध्ययन किए हुए व्यक्तियों को योग्य होते हुए भी समाज में समस्याओं का सामना करना पड़ता हैं। होना तो यह चाहिए कि योग्यता के आधार पर लोगों को काम मिले और राज्य अपने कर्मचारियों का चयन करे, न कि किन्हीं कागजी प्रमाणपत्रों के आधार पर। इसके लिए अभ्यर्थियों का सरकारी मान्यताप्राप्त संस्थान से प्रमाणपत्र प्राप्त करना अनिवार्य नहीं होना चाहिए। यदि राज्य आज केवल एक काम करे कि सभी प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए शिक्षा की अर्हता समाप्त करके केवल आयु की अर्हता रखे तो फिर किसी को भी सरकारी मान्यता प्राप्त संस्थान से शिक्षा लेने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। उसे केवल विद्वान और योग्य बनना आवश्यक रह जाएगा। इससे शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण समाप्त हो जाएगा। इससे शिक्षा अत्यंत सस्ती और सर्वसुलभ भी हो जाएगी, क्योंकि कोई भी योग्य व्यक्ति बिना संस्थान खड़ा किए शिक्षा दे सकेगा। इससे निजी संस्थानों का वर्चस्व भी टूट सकेगा।

शिक्षा में एक मुद्दा पाठ्यक्रमों का भी है। हमारा मानना है कि पाठ्यक्रमों के निर्माण करने वाली समितियों में भारतीय परंपरा के विद्वानों को अनिवार्य रूप से रखा जाना चाहिए। अभी इसका घोर अभाव है। उदाहरण के लिए एनसीईआरटी की कक्षा छह की विज्ञान की पुस्तक की निर्माण समिति के सदस्यों में एक भी भारतीय परंपरा और आयुर्वेद आदि भारतीय विज्ञान का विद्वान नहीं रखा गया है। इस पुस्तक के पहले तीन अध्याय भोजन और वस्त्र पर हैं परंतु इस समिति में भारतीय भोजन पद्धति को जानने वाला कोई विशेषज्ञ नहीं है। इससे बच्चों को भारतीय विज्ञान परंपरा की जानकारी देना असंभव ही हो जाता है। दूसरा उदाहरण कक्षा छह की ही इतिहास की पुस्तक का है। इस पुस्तक में इतिहास के स्रोतों की चर्चा में भारत में प्रचलित श्रुति परंपरा का उल्लेख भी नहीं किया गया है। यदि भारतीय परंपरा के विद्वान पुस्तकलेखन समिति में होते तो ऐसा नहीं होता और बच्चों को सही जानकारी प्राप्त होती।

पाठ्यक्रम निर्माण में दूसरा बिंदु यह है कि भारत की विविधता के अनुसार ही विविध

पाठ्यक्रम तैयार किए जाने चाहिए। जैसे उत्तर भारत की भोजन परम्परा दक्षिण से भिन्न है, मिट्टी भिन्न है, तो विज्ञान, भूगोल आदि के पाठ्यक्रम भी भिन्न होंगे। इसी प्रकार पूरे भारतवर्ष को केवल दिल्ली सल्तनत पढ़ाया जाना उचित नहीं है। दक्षिण के छात्रों को विजयनगर साम्राज्य, चोल साम्राज्य की विशेष जानकारी होनी चाहिए। बिहार के छात्रों को वैशाली, नालंदा, मिथिला आदि का विशेष इतिहास पढ़ाया जाना चाहिए। इसलिए राष्ट्रीय इतिहास के साथ-साथ स्थानीय इतिहास, समाजविज्ञान आदि पढ़ाने के लिए प्रदेशानुसार तथा विज्ञान पढ़ाने के लिए एग्रोक्लाइमेटिक क्षेत्र के अनुसार पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाना चाहिए। पाठ्यक्रम निर्माण में तीसरा बिंदु यह है कि बाल मनोविज्ञान को ध्यान में रख कर पाठ्यक्रम बनाया जाए। उदाहरण के लिए नागरिक शास्त्र की कक्षा छह की पुस्तक के पहले पाठ में एक कथा है कि एक बच्चे को पुरस्कारस्वरूप धन मिलता है, जिससे वह कुछ खरीदने को दुकान चला जाता है। तथ्यात्मक रूप से यह गलत नहीं है परंतु नैतिक रूप से यह ठीक नहीं कहा जा सकता। आखिर हम बच्चे को क्या सिखाना चाहते हैं? इसी प्रकार छठी कक्षा की इतिहास की पुस्तक में इतिहास पढ़ाने की बजाय इतिहासलेखन के तरीके और इतिहास-दर्शन जैसे कठिनतम विषय पढ़ाया जा रहा है। यह सब बच्चों के लिए नितांत अरुचिकर और अनुपयोगी है। इसी प्रकार यदि विज्ञान का छात्र निरंतर यही पढ़ेगा कि विज्ञान संबंधी सारे अनुसंधान यूरोप में हुए, भारत में तो कुछ कभी हुआ ही नहीं, तो उसमें राष्ट्रगौरव का भाव कैसे जगेगा। कम से कम इसमें जो सच है, वह तो पढ़ाया ही जाना चाहिए।

चौथा महत्त्वपूर्ण बिंदु है कि पाठ्यक्रम व्यावहारिक हों। वर्तमान में तो विज्ञान के पाठ्यक्रम भी अव्यवहारिक हैं। कृषि के पाठ्यक्रम भी कृषक तैयार नहीं करते, यह एक विडंबना है। रसायनशास्त्र का पाठ्यक्रम रसायनज्ञ नहीं बनाता। इस कारण 12-15 वर्ष शिक्षा लेने के बाद भी भारतीय युवक रोजगार के लिए सरकार का मुखापेक्षी होता है। वह स्वयं अपनी शिक्षा के बल पर आजीविका कमाने योग्य नहीं होता। इसके विपरीत भारतीय शिक्षा परम्परा रोजगारपरक भी होती थी। छान्दोग्य उपनिषद में वर्णन है कि सत्यकाम जाबाल ब्रह्म विद्या पढ़ने के लिए अपने गुरू के पास गया तो गुरू ने उसे कुछ गाये देकर जंगल भेज दिया और कहा कि जब तक 1000 गायें ना हो जाये तब तक नहीं आना। यह व्यावहारिक शिक्षण था। इससे छात्र को पशुपालन, कृषि आदि कई विधाओं को सीखना पड़ता था। उसमें निष्णात होने पर ही उसकी शिक्षा पूर्ण मानी जाती थी। आज इन बिंदुओं का ध्यान रखने की तीव्र आवश्यकता है।

(रवि शंकर)

भारतीय उच्च शिक्षा की दशा व दिशा

डॉ. ओंकार नाथ*

* लेखक सभ्यता अध्ययन केंद्र से जुड़े इतिहास के शोधार्थी हैं, प्रतियोगी परीक्षा के छात्रों को इतिहास पढ़ाते हैं तथा उन्होंने एक पुस्तक इस्लाम पश्चात् भारत लिखी है जो अभी प्रकाशनाधीन है।

शिक्षा का सामान्य उद्देश्य देश के लिए बेहतरीन नागरिक तैयार कर एक विशिष्ट समाज की रचना करना है। यह भी कहा जाता है कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य एक सभ्य समाज का निर्माण करना होता है। दूसरे शब्दों में समाज व राष्ट्र की बुनियाद के निर्माण की भूमिका शैक्षणिक क्रियाकलापों से जुड़ी है। वर्तमान में सर्वाधिक चिंतनीय पहलू यह है कि भारतीय शिक्षा में उच्चशिक्षा की भाषा ही नहीं भावों के प्रस्तुतिकरण व सामाजिक विषयों का विश्लेषण भी औपनिवेशिक तथा पश्चिमी यानी यूरोपीय-अमेरिकी मानदंडों से पूरी तरह प्रभावित है। यह देखना काफी आश्चर्यजनक हो सकता है कि देश के प्रमुख विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाने वाला सामाजिक विज्ञान न केवल भारत से पूरी तरह अपरिचित है, बल्कि वह भारत के परंपरागत समाज, उसके ज्ञान और उसकी समझ तीनों का ही घोर विरोधी है। इन विश्वविद्यालयों में चलने वाली अधिकांश पुस्तकें भारत को विदेशी औपनिवेशिक दृष्टिकोण से ही व्याख्यायित और प्रस्तुत करती हैं। इतिहास, राजीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, यहां तक कि साहित्यिक विषय भी भारत में प्रचलित उच्च शिक्षा हेतु पाठ्यक्रम पश्चिमी यूरोपीय विचारों की नकल मात्र ही है। उनमें मौलिक और भारतीय चिंतन का घोर अभाव है और यही कारण है कि छात्रों में भी मौलिक चिन्तन की क्षमता धीरे-धीरे कम होकर आज शून्यता के निकट पहुँच चुकी है। भारतीय परिवेश के अनुसार सामाजिक विशेषताओं से विलग होकर बिना मौलिक चिन्तन के निर्मित शिक्षा प्रणाली की पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से देश के तमाम स्कूल, कॉलेज विश्वविद्यालयों से इसी यूरोपीय-अमेरिकी औपनिवेशिक मानसिकता के अंधाधूंध नकल से निर्मित पुस्तकों को पढ़कर हमारे देश के कर्णधार, शिक्षाविद, पत्रकार, प्रशासक बन रहे हैं। इसमें राष्ट्र की सामाजिक, राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर दर्शन साहित्य आदि विषयों में एक मौलिक चिन्तन की क्षमता आखिर जन्म ले भी तो कैसे? समाज को देखने, जानने समझने का दृष्टिकोण तो वही बनेगा, जो उनको यह शिक्षण विशेषकर उच्च शिक्षा देगी। स्वाभाविक

ही है कि ऐसी पुस्तकों को पढ़ कर बड़े होने वाले छात्र देश के बारे में हीनता के बोध से तो ग्रसित रहते ही हैं, मिथ्या इतिहास और मिथ्या धारणाओं के कारण देश की समस्याओं को भी समझने में भूल करते हैं।

ऐसा नहीं था कि देश में सामाजिक विज्ञान के विषयों में कोई मौलिक, गैरऔपनिवेशिक तथा भारतीय चिंतन तथा लेखन हो ही नहीं रहा था। ऐसा चिंतन और लेखन इन विश्वविद्यालयों की अकादमिक परंपरा के अंदर तथा बाहर बड़े परिमाण में होता रहा है। परंतु देश को स्वाधीनता मिलने के बाद पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने जैसी नीतियां अपनाईं, उनमें रूस के समाजवाद और यूरोप के पूंजीवाद का घालमेल था और इसप्रकार देश की अकादमिया पर एक विचारधारा विशेष का कब्जा होता गया। यदि हम इतिहासकार ई.एच. कार के शब्दों में कहें तो जैसे हरेक इतिहासकार अपने पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होता है, वैसे ही अकादमिया के लोगों का भी किसी विचारधारा विशेष से प्रभावित होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है, परंतु किसी विचारधारा की तानाशाही स्थापित करना अवश्य नुकसानदेह है। भारत के अकादमिया में वैचारिक तानाशाही को शासन के सहयोग से स्थापित किया गया। इसका प्रतिफलन देश के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में हाल के दिनों में चले अराजक आंदोलनों में देखा जा सकता है।

उच्च शिक्षा का विकृतिकरण

1970 के दशक में जाने माने शोधकर्ता, फिलिस्तानी विचारक अब दिवंगत श्री एडवर्ड सईद की रचना 'ओरिएंटलिज्म' ने दुनिया के सामने यह विचार रखा कि यूरोपीय देशों ने एशिया, अफ्रीका, अमेरिकी देशों के उपर जब राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया तो इन महादेशों से संबंधित तमाम ऐतिहासिक, पर्यावरणीय, सांस्कृतिक संपदाओं की जानकारी इकट्ठा कर इनका प्रयोग न सिर्फ अपने साम्राज्यवादी शासन की स्थायित्व देने के लिए उपयोग किया वरन् तमाम नए मिथकों को जन्म दिया जिससे एशिया, अफ्रीका, अमेरिकी समाजों में नई-नई विचारधारा और मनोदशा बनी और स्थापित हुई।[1] एडवर्ड सईद के पहले ही कई लोगों ने यह बात समझी लेकिन सईद का महत्व इसलिए है कि तमाम देशों से इनको वैचारिक स्वीकृति मिली। सभी ने अपने-अपने ऐतिहासिक विकृतियों को सुधारा, दूसरे शब्दों में शैक्षणिक पुनर्जागरण का दौर सर्वत्र दिखाई देने लगा सिवाय भारत के। इन विकृतियों को समझने के लिए जरा इतिहास के पन्नों को पलटना आवश्यक है।

आज यह कोई छिपा तथ्य नहीं है कि भारत में अंग्रेजों के छिटपुट शासन की स्थापना के बाद वैचारिक-सांस्कृतिक विजय के लिए विलियम जोन्स (1784) के पश्चात् से भारतीय समाज के संदर्भ में कैसे-कैसे नवीन विचार बनाए गए और उनका 'बांटो और राज करो' की अंग्रेजी शासकीय नीति में कैसे उपयोग किया गया। जानने की आवश्यकता इस बात की है कि उस समय निर्मित विचारों ने कैसी भूमिका निभाई और आज की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में वह कैसे और क्यों घुसपैठ बनाए हुए है। सबसे बढ़कर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनके संभावित अपेक्षित परिणाम आज तक क्या-क्या निकल रहे हैं?

वर्ष 1792 ई. के बाद से ही भारतीय समाज और उससे जुड़ी मान्यताओं पर नकारात्मक टीका-टिप्पणी से भरी पुस्तकें लिखकर 1600 पृष्ठों की रिपोर्ट बनाकर, भारत में कार्यरत 266 केन्द्रों पर 360 से ज्यादा मिशनरियां के पादरी अपने 500 प्रचारकों के साथ-साथ पूरे यूरोप में न सिर्फ प्रचार-प्रसार कर रहे थे वरन् उनके साथ-साथ भारतीयों को धूर्त, असभ्य,

कायर, क्रूर, जानवर बताते हुए उनको सभ्य बनाने के ऐतिहासिक दैवीय दायित्व को पूर्ण करने के अभियान में लगे हुए थे।[2] इन भूमिकाओं को निभाने के लिए बिल्वरफोर्स, रार्बट ओम, सर जान शोर, विलियम जोन्स, कार्नवालिस, वेन्सटार्ट, मेकफार्सन जैसे लोगों की पूरी जमात लगी हुई थी। इन लोगों ने जो विचारधारा बनाई, उसकी भी चर्चा आवश्यक है। इनके अनुसार

1. भारत नाम का न कोई देश है, न इसकी कोई पहचान है।[3]
2. भारत महज एक महाद्वीप है, जिसमें कई देशों का जमावड़ा है।
3. भारत की अपनी कोई संस्कृति नहीं है, यहां सभी घुसपैठिए और हमलावार आ-आ कर कब्जा जमाते रहे।
4. सृष्टि के आरंभ होने के बाद से भारत में नीग्रोटो, प्रोटोआस्ट्रेलियाड, द्रविड़, तुर्क, अफगान, मंगोल, सैय्यद, अबीसिनाई, ईरानी, तुरानी, मुसलमान आक्रमणकारी पिछले 500 ईसा पूर्व से अंग्रेजों के आने तक कब्जा जमाते रहे हैं।[4]
5. भारत के लोगों को न अपना इतिहास पता है, न समय का ज्ञान है, न वे लेखन कला से परिचित रहे हैं।
6. रामायण, महाभारत, उपनिषद, पुराण जैसे तमाम ग्रंथ काल्पनिक, मिथकीय, कहानियों के संकलन मात्र हैं। वेद जहां गडेरियों के गीत हैं, वहीं पुराण कई नौटंकियों के जमावड़ा हैं।
7. ब्राह्मण, क्षत्रिय जैसी जातियां विदेशी आर्य हैं जिन्होंने पहले से यहां रह रही द्रविड़ जातियों को गुलाम बनाया।
8. पिछड़ी व अनुसूचित कही जाने वाली जातियों को आर्य जाति ने गुलाम बनाया। इनके अलावा जाट, गुर्जर, राजपूत भी विदेशी नस्ल के लोग हैं। इन्होंने भी समय-समय पर भारत पर कब्जा जमाया और अन्य जातियों पर जुल्म ढाए।[5]
9. दक्षिण भारत में रह रही जातियां द्रविड़ हैं जिनको उत्तर भारत पर कब्जाए हुए आर्य नामक विदेशी जाति ने उत्तर से दक्षिण खदेड़ दिया है।
10. भारत में हिन्दुओं के सभी देवी-देवता खून के प्यासे, भयंकर शैतानों की तरह हैं।
11. राम, कृष्ण आर्य परम्परा के प्रतीक हैं जिन्होंने द्रविड़ रावण को बर्बाद कर अपना वर्चस्व बनाया।
12. मुसलमान इस्लाम को मानने वाले विदेशी आक्रमणकारी हैं, जिन्होंने अपनी अरब, फारसी वाली विशिष्ट तहजीब लाकर भारत में तलवार के बल पर लाद दी।
13. भारत की अपनी जो भी सामाजिक सांस्कृतिक उपलब्धि रही, उसको पैगम्बर मुहम्मद का इस्लाम तथा उनके बनाए रास्तों पर चलते हुए तमाम मुस्लिम शासकों ने बर्बाद कर दिया।
14. भारत कभी एक नहीं था। ब्रिटिश साम्राज्य ने इनको एक ही नहीं किया, उसे इस्लाम के खूनी जिहाद से बचाकर रक्षा करते हुए पश्चिम के मानवतावादी, लोकतांत्रिक, संसदीय व्यवस्था वाले शासन प्रणाली के तहत लोगों के भलाई करने वाले वैज्ञानिक, औद्योगिक शिक्षा देते हुए भारत के ही तमाम लोगों के हाथों में सत्ता सौपने की तैयारी कर रहा है।[6]
15. भारत के तमाम राजे-महाराजा, नवाब आदि तानाशाह, क्रूर, जालिम रहे जिन्होंने जनसामान्य का जीना हराम कर रखा था। इसके साथ ही भारतीय समाज भी ब्राह्मण के अत्याचारों और पाखंडों से शताब्दियों से दबा रहा। अंग्रेजी शासन के बाद यह सब रूका।
16. भारत की प्रगति सिर्फ अंग्रेजी ब्रिटिश न्यायप्रिय-लोकतांत्रिक व्यवस्था में है जिनको भारत के लोग अपना कर एक आधुनिक राष्ट्र बन सकते हैं।

ऐसे कई अन्य सामान्य निष्कर्ष है जो समय-समय पर निकाले ही नहीं गए, बल्कि इनको उस समय के प्रचलित स्कूल, कॉलेजों, विश्वविद्यालयों के साथ-साथ तत्कालीन पत्र, पत्रिकाओं, वैचारिक गोष्ठियों आदि के माध्यम से देश के समस्त बौद्धिक जगत में फैला दिया गया। इन तमाम विचारधारा को गढ़ने में विलियम जोन्स (1746-94), चार्ल्स विल्किन्स (1749-1836), हेनरी थामस कोलब्रुक (1765-1837), सर जान शोर (1751-1834), होरेस विल्सन (1786-1860), जेम्स मिल (1773-1836), टीबी मैकाले (1800-1859), चार्ल्स ग्रांट (1746-1823), विल्वरफोर्स (1759-1833), ऐलीफिन्सटन (1779-1850), मेल्कम (1769-1833), जेम्स टॉड (1782-1835), जेम्स कनिंघम ग्रांट डफ (1789-1858), कनिंघम (1812-1851), केयी (1814-1876), जार्ज बुस मैलीशन (1825-1898) जैसे 500 से ज्यादा लेखकों की रचनाएं आज हमारे पास उपलब्ध हैं। इनके नाम तथा समय-काल को जानना इसलिए आवश्यक है कि 150 सालों में इन्होंने जो विचारधारा गढ़ी, उस पर ही सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से लेकर जवाहर लाल नेहरू तक और उसके बाद आज की तमाम अंग्रेजीदां युवा पीढ़ी और उच्च शिक्षित वर्ग आगे बढ़ा। इस नई विचारधारा के अनुसार ही नए भारत का निर्माण प्रारंभ हुआ। इसलिए आज के भारत की जो भी समस्याएं हैं, उनका मूल भारत की परंपरा में नहीं, बल्कि इस नई औपनिवेशिक विचारधारा में ही निहित है।

उल्लेखनीय बात यह है कि भारत के बारे में अंग्रेजों ने जो भ्रम फैलाया, वह वास्तविकता में ब्रिटेन की अपनी स्थिति थी। ब्रिटिश साम्राज्य के मूल स्रोत ब्रिटेन या जिसे ग्रेट ब्रिटेन और बाद में यूनाइटेड किंग्डम कहा गया, उसमें ब्रिटेन, वेल्स, स्कॉटलैण्ड और आयरलैण्ड राज्य आते हैं। इनमें जर्मन कबीले ब्रिटन से ब्रिटिश जनजाति, इंग्लिश से इंग्लिश जनजाति, जर्मनी की सैक्सन जनजाति और स्कॉटिश जनजाति से यह क्षेत्र बना। उनकी भाषा, कानून, रिलीजियन, खान-पान, वस्त्र-विन्यास और व्यवहार सभी अलग-अलग थे। ग्रेट ब्रिटेन के सभी निवासी अपना मूल अभिजन जर्मनी में खोजते हैं। वहां के शासक भी जर्मन जनजाति समूहों के नेता है। वे चाहे स्टूअर्ट हो या होनऑवर, विंडसर हो या साक्से-कॉबर्थ-गोथा सभी किसी न किसी जर्मन जनजाति समूह से आते थे। लगभग 1000 ईस्वी के आसपास जर्मनी से निकले इन कबीलों ने ब्रिटिश द्वीप समूह को अपना निवास चुना और इसकी सत्ता पर काबिज हो बैठे और अलग-अलग समय पर वहां शासन किया। वहीं, भारत में अलग-अलग राज्य थे, लेकिन शासन प्रणालियों में समरूपता के साथ ही रिलीजियन जैसे कठोर और ठोस सामाजिक अन्तर नहीं थे। भाषा सभी की एक नहीं थी, लेकिन संस्कृत पूरे भारत में सीखी और बोली जाती थी। इसके अलावा तुर्कों और मुगलों के आगमन के बाद फारसी ने भी पूरे भारत में एक सहज स्थान प्राप्त कर लिया था। रामायण जैसा ग्रन्थ पूरे भारत को एक किए हुए था। ऐसे में भारत की पहचान को मिटाने के लिए अंग्रेजी शासन ने भारत को एक उपमहाद्वीप का दर्जा दे दिया। उत्तर में हेरात से लगाकर दक्षिण में कन्याकुमारी और पश्चिम में बलूचिस्तान से लगाकर पूर्व में ब्रम्हा तक भारत की सांस्कृतिक एकता आज भी नजर आ जाती है। कपड़े पहनने के तौर-तरीके और खान-पान सभी लगभग एक से हैं। जब अंग्रेज भारत आए तो उन्होंने भारत को भी ब्रिटिश राजसत्ता के नजरिये से देखना शुरू किया और सबसे पहले यहां के शासकों को विदेशी कहना प्रारम्भ किया। इसके दो फायदे थे एक तो भारतीयों को भारत के बाहर का कह कर स्वयं की सत्ता का वैध बताना और दूसरा यहां के जनजाति समूहों और शहरी नागरिकों में विभेद पैदा कर सत्ता पर काबिज रहना। इन दोनों में वे सफल भी रहे।

इसके बाद अंग्रेजों ने यह कहना प्रारम्भ किया कि आर्यों ने उत्तर भारत से दक्षिण की और यहां के मूल निवासी द्रविड़ों को खदेड़ा। प्राचीन भारत के इतिहास मे विन्ध्याचल की उत्पत्ति से ही वैदिक भारत दो भागों में बंट गया। उत्तर में उत्तरापथ के पंचगौड प्रदेश और दक्षिण में दाक्षिणापथ के अनुयायी पंचद्रविड़ प्रदेश। पंचगौड में गौड, सारस्वत, कान्यकुब्ज, मैथिल और उत्कल हैं। उसी प्रकार पंचद्रविड में द्रविड़, कार्णाटक, तैलंग, महाराष्ट्र और गुर्जर हैं। भारत के कई जनसमूह इन्ही दश वर्ग में आते हैं। ये सभी आर्य हैं और इन्हें कभी खदेड़ा गया ही नहीं। यह काम तो जर्मनी से आई कबिलाई नस्लों ने ग्रेट ब्रिटेन में किया। कालांतर में अंग्रेजों के इस दावे ॅकि आर्य भारत में आक्रान्ता थे, को पुरातत्ववेत्ताओं ने नकार दिया। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के पूर्व महानिदेशक और पुरातत्वेत्ता बी.बी. लाल की पुस्तक 'हाउ डीप आर दी इंडियन सिविलाइजेशनः आर्कियोलोजी आंसर्स' में लेखक करीब 7000 ईसा पूर्व से 1000 ईसा पूर्व के बीच भारतीय उपमहाद्वीप में किसी प्रकार के आव्रजन को तथ्यों के साथ नकार देते हैं। वे रोमिला थापर और डी.एन. झा जैसे वरिष्ठ इतिहासकारों को 17वीं शताब्दी के विचारों से प्रेरित बताकर उन्हें नए अनुसंधान को अपनाने की सलाह देते हैं। इससे एक ओर जहाँ, आर्यों द्वारा द्रविड़ों को दक्षिण भारत की ओर धकेले जाने का सिद्धान्त ही छिन्न-भिन्न हो जाता है, वहीं आर्यों के नोमेडिक और चरवाहा संस्कृति के होने के दावे भी सांस तोड़ देते हैं। इसके साथ ही भारत ही भारतीय संस्कृति का मूल अभिजन भी सिद्ध होता है। सिन्धु सभ्यता (जिसे सनातन सभ्यता ही कहा जाना चाहिए) भारतीय आर्यों (सुसंस्कृत समाज) की ही देन थी। इसके प्रखर प्रमाण कई स्थानों से मिले हैं। हड़प्पा से मिली योगीश्वर शिव की मुद्रा हो या नौशहरो फिरोज शहर के पुरातत्वस्थल से मिली सिंदूर से मांग भरी महिला की प्रतिमा, दोनों ही सनातन संस्कृति के पुख्ता प्रमाण है, जो उत्तर से दक्षिण तक और पूरब से पश्चिम तक भारतीय क्षेत्र में आज भी समान्य जीवन का अंग है।

इस प्रकार भ्रामक प्रचार कर अंग्रेजों ने भारत के प्रति भारतीयों को शर्म का अनुभव करवाने का प्रयास किया और 18वीं सदी के अन्त और 19वीं सदी के प्रारम्भ में पुनर्जागरण जैसे आन्दोलन की परिकल्पना पेश कर दी। यह सिर्फ बंगाल प्रसिडेंसी का मसला था और इसे पूरे भारत में बदलाव की तरह पेश किया गया। राज राममोहन राय और केशव चंद्र सेन जैसे अंग्रेजों से प्रभावित विचारकों का उपयोग भारतीय मानस को ईसाइयत की ओर मोड़ने में किया गया। पूरे संगठित समाज से कोई एक या दो दोषों को पकड़ कर इसे पूरे समाज में सर्वव्यापी बता कर हमे बर्बर और हिंसक बताने का प्रयास किया गया। जबकि ये दोष समाज में प्रवृत्ति नहीं होकर आंशिक थे। यहां के हालात और भौतिक परिस्थितियों को नकार कर, यूरोपीय व्यवस्था को अपनाने पर मजबूर किया गया। हमारी पूरी संस्कृति को जड़ से उन्मूलित करने के लिए शिक्षण व्यवस्था को ही नष्ट कर दिया गया। आज भी हम उसी शिक्षण व्यवस्था को ढो रहे हैं।

इस व्यवस्था को अंग्रेजों ने उनके चाटूकार पैदा करने के लिए तैयार किया था न कि विद्वान और विचारक तैयार करने के लिए। यह तो भारतभूमि है जो दर्शन और अध्यात्म को अपने से अलग ही नहीं होने देती और हर युग में विश्व को दिशा देने वाले दार्शनिक और वैज्ञानिक पैदा के लिए उर्वर रहती है। इन तमाम विचारधाराओं को कैसे तमाम भारतीय मनीषीयों ने समझा, इसका प्रतिउत्तर देते हुए वैकल्पिक विचारधारा न सिर्फ खड़ी की वरन् पश्चिम के घोषित मानवतावादी विचारधारा की कलई खोली, यह आज किसी से छिपा नहीं है। स्वामी दयानंद सरस्वती, बंकिम चंद्र चटर्जी, रविन्द्र नाथ टैगोर, स्वामी विवेकानंद, बाल गंगाधर तिलक, अरविन्दो घोष, मोहनदास करमचंद्र गांधी, हरविलास शारदा, ब्रजेंद्रनाथ शील, काशी प्रसाद

जायसवाल, धर्मपाल से लेकर स्वाधीन भारत में वैद्य गुरुदत्त, पंडित भगवद्दत्त, कोटा वेंकटचलम, रामस्वरूप, सीताराम गोयल जैसे सैकड़ों विचारकों ने भारतीय विमर्श खड़ा करने का प्रयास किया। इन्होंने उपरोक्त सभी मिथ्या प्रचारों का समुचित उत्तर दिया और इतिहास से लेकर दर्शन तक के स्तर पर इनका सच सामने रखा।

प्राचीन भारत पर भ्रामक तथ्यों का प्रचार

बहरहाल, पश्चिमी यूरोपीय देशों की निर्मित विचारधारा ने लगातार 150 सालों तक ऐसा भ्रमजाल बुन दिया है जिससे हमारी सिर्फ शिक्षण व्यवस्था ही नहीं पूरे भारत की मानसिक दशा की बुनावट सोच, समझ, देखने, सुनने, जानने का माध्यम भी बुरी तरह दिग्भ्रमित है। पांच विशेष मुद्दे हैं जिन पर गंभीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक है।

1. 1947 के बाद से यह औपनिवेशिक विचारधारा क्यों गतिमान रही?
2. इस विचारधारा से भारतीय शिक्षण परंपरा व मानस कैसे गिरफ्त में है?
3. इन ऐतिहासिक विकृति की पुनरावृत्ति से समाज में क्या क्या प्रभाव-परिणाम पनप रहे है?
4. इन विकृतियों को दूर करने हेतु पूर्व की राजनीतियों से सबक लेते हुए क्या उपाय अपेक्षित है?
5. आज इनको कैसे दूर करें, संस्कार समेत शिक्षक समाज की कौन सी भूमिका अपेक्षित है?

1750 से 1900 तक जिन विचारों को पश्चिमी यूरोपीय विचारकों ने बनाया, उसी समय उसी यूरोप में ऐसे लोग भी हुए जिन्होंने भारत और भारतीयता को समझा। आर्थर शॉपेनहॉवर (1788-1860), वाल्तेयर (1694-1778), वर्नर हाइजेनवर्ग (1901-1976), जुलियस ओपन हाइमर (1904-1967), फ्रेडरिक हेगल (1770-1831), हेनरी डेविड थोरो (1817-1862), विलियम वर्ड्सवर्थ (1770-1850) जैसे सैकड़ों विचारक हुए जिन्होंने भारतीय वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, महाभारत, संस्कृत भाषा, गौतम के सांख्य दर्शन, पतंजलि के योग सिद्धांत, शंकराचार्य, कणाद जैसे कई मनीषियां पर जो भी कहा, लिखा है, उनको पढ़ कर एक आम भारतीय अपनी संस्कृति विरासत पर अपने पूर्वजों की उपलब्धियों पर गौरवान्वित हो सकता है और आत्मसम्मान से भरकर दुनिया की सभ्यताओं में खुद को सबसे आगे देख सकता है। लेकिन 1947 के पश्चात् पूर्व की जारी मैकालेवादी शिक्षा नीति को नेहरूवाद की विरासत में जन्मे वामपंथी, मिशनरी जिहादी गंठजोड़, जिनकी चर्चा आगे की गई है, ने और अधिक विकृत किया।

डी. डी. कोसांबी, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर, डी. एन. झा, हबीब जूनियर एंड सीनियर, सतीश चन्द्र, हरबंस मुखिया, विपिन चंद्र, सुमित सरकार, रामलखन शुक्ल जैसे तमाम लेखकों जो अधिकांशतः जेएनयू तथा दिल्ली विश्वविद्यालय से जुड़े रहे, ने ऐसी-ऐसी पुस्तकों, विचारों को चुना, लिखा कि उन्हें पढ़ कर आम भारतीय शर्म से अपना मुंह छिपा ले। इनके विचारों को कुछ उदाहरणों से समझा जा सकता हैः-

. प्राचीन भारत के लोगों में कोई इतिहास बोध नहीं था।[7]
. भारत में सभ्यता का प्रारंभ सिर्फ 2500 ईसा पूर्व से शुरू होता है।[8]
. सिंधु सभ्यता को विदेशी आर्यों ने खत्म किया।[9]
. वैदिक संस्कृति सिर्फ उत्तर भारत तक सीमित थी।[10]
. वैदिक देवता इन्द्र बलात्कारी था, वैदिक लोग कबाइली, लूटमार करने वाले, गो-मांस खाने वाले लोग थे।[11]

. ब्राह्मणों के कमंकांडी जलसाजियों से बौद्ध धर्म पनपा।[12]
. भारत की जो कुछ उपलब्धियां है, ह बौद्ध धर्म की देन है।[13]
. रामायण, महाभारत महज मिथक हैं, पुराणों में किंवदंतियां, कथाएं तथा कहानियां भर हैं।
. भारत का इतिहास प्रारंभ ही होता है, भारत पर सिकंदर के आक्रमण से।
. कौटिल्य का अर्थशास्त्र इसलिए बेहतर है क्योंकि वह सत्ता पर उपर से नीचे तक कब्जा रखता था।
. अशोक भारत का एकमात्र महान राजा था। ब्राह्मणों ने षड्यंत्र कर उसका साम्राज्य खत्म कर दिया।
. यूनानी, शक, पह्लव, कुषाण आदि एक-एक करके भारत को कब्जाते गए।
. गुप्त शासकों के काल को स्वर्ण युग नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि यह ब्राह्मणवादी कर्मकांडी किताबों के लिखने तक सीमित रहा।[14]
. भारत के तमाम राजे-महाराजे सदैव आपस में संघर्षरत रहे, इनकी कोई उपलब्धियां नहीं रही, रही भी तो महज ब्राह्मणवादी कर्मकांडी या चाटुकारतापूर्वक, वीर रस वाली पुस्तकें लिखवाने तक सीमित रहीं।[15]
. प्राचीन भारत के संदर्भ में हिन्दू धर्म जैसी मान्यता किसी की नहीं थी। हिंदूओं की कोई विशेषता तथा उपलब्धि ऐसी नहीं है जिनको विश्व की सभ्यताओं में स्थान दिया जाए। अगर कुछ है भी तो वो विदेशी आर्य ब्राह्मणों का वर्चस्ववादी कर्मकांडी स्वभाव है।

यह एकतरफा लेखन यही तक सीमित नहीं है, दिल्ली विश्वविद्यालय जैसे प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थानों में हिन्दू धर्म की तमाम विकृत व्याख्या वाली किताबों के माध्यम से भ्रामक, लज्जाजनक शर्मनाक बातें पढ़ाई जाती रही। ए.के. रामानुजन (मेनी रामायण, इंडिया एंड वर्ल्ड), वैंडी डोनिगर (द हिन्दू) समेत कई लेखकों की विवादित किताबें समय-समय पर चर्चित होती रही। इन तमाम विचारधारा के लोगों द्वारा कुछ खास चुनींदा बातें विद्यार्थियों के संवेगात्मक मस्तिष्क में बैठाई गई। इससे प्राचीन भारत के बारे में एक प्रकार का हीनभाव देश की युवा पीढ़ी में पैदा हुआ है।

इसके वपिरीत जिन भी लेखकों ने प्राचीन भारत के इतिहास को उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया, उसे औपनिवेशिक शिक्षा के केंद्र बने इन विश्वविद्यालयों में न तो महत्त्व दिया गया और न ही उसे ऐतिहासिक लेखन के रूप में स्वीकार किया गया। उदाहरण के लिए कोटा वेंकटचलम जैसे विद्वानों ने प्राचीन भारत का प्रारंभ भारत की युग-कालगणना के अनुसार महाभारत से पूर्व का माना और उन्होंने ढेरों प्रमाण देकर भारत के इतिहास को करोड़ों वर्ष प्राचीन साबित किया, महाभारत की घटना को ऐतिहासिक साबित किया, परंतु भारत के अकादमिक जगत में इस स्थापना को कहीं स्थान नहीं दिया गया। उनके लिए रामायण और महाभारत मिथक ही बने रहे। आर्य आक्रमण सिद्धांत को प्रारंभ से ही रघुनंदन शर्मा[16], पंडित भगवद्दत्त[17] जैसे अनेक विद्वानों ने चुनौती दी, परंतु उसे भी भारत के अकादमिक जगत में कहीं स्थान नहीं दिया गया।

मध्यकालीन भारत का मिथ्या महिमामंडन

प्राचीन भारत के हीन भाव को और आगे बढ़ाते हुए देश के मध्यकालीन इतिहास को गुलामी के इतिहास के रूप में पढ़ाना और उस गुलामी के काल का महिमामंडन करना, भारत के अकादमिया का दूसरा पक्ष है। जब इस्लामिक युग या मध्यकाल की चर्चा की जाती है तो

उनके संदर्भ में एक बेहद सकारात्मक, सम्मानजनक लेखन और इस्लाम की जिहादी कट्टरता तथा हिंसा, मजहबी मतांतरण आदि को गायब कर देने जैसे कारनामे किये गए। इसके लिए इतिहास की मनमानी व्याख्या की जाती रही। जैसेः-

. भारत में इस्लाम का प्रवेश तथा प्रचार-प्रसार व्यापारियों व उदार सूफी संतों के माध्यम से हुआ।[18]
. मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर हमला उन व्यापारियों को दंड देने के लिए किया जिन्होंने अरब के जहाज को लूटा था।[19]
. महमूद गजनवी एक लुटेरा था, परंतु जब मंदिरों में धन रहेगा तो मंदिर लूटे जाएंगे ही। मंदिर तोड़ना कोई मजहबी काम नहीं था। कई हिंदू राजाओं ने भी यह कार्य किया।[20]
. मोहम्मद गोरी का आक्रमण महज पूर्व के अन्यान्य आक्रमणों की भांति ही एक और आक्रमण था। वह आया और अपने गुलामों के हाथों में शासन सौंप कर चला गया।
. अलाउद्दीन खिलजी ने मंगोल हमलों से भारत को बचाया, उसकी आर्थिक नीतियों से प्रजा बेहद लाभान्वित हुई।[21]
. मुहम्मद तुगलक प्रतिदिन गंगा जल पीता और होली, दिवाली में भाग लेता।[22]
. फिरोज तुगलक ने कई नगरों की स्थापना की, 1200 से ज्यादा बाग लगाकर भारत को धन्य कर दिया।[23]
. बाबरनामा भारत को जानने का एक बहुमूल्य दस्तावेज है।
. अकबर जैसे महान बेहतरीन शासकों ने धर्मनिरपेक्षता के माध्यम से एक हिन्दू-मुस्लिम, गंगा -जमुनी संस्कृति को जन्म दिया।
. राणा प्रताप एक छोटे से महज विद्रोही थे।
. भारत में चित्रकला की विधिवत शुरुआत जहांगीर ने की।[24]
. शाहजहां काल में भारत अपने स्वर्णयुग में पहुँच गया।[25]
. औरंगजेब एक बेहद उदार शासक था, आर्थिक संकटों ने उसको थोड़ी बहुत कट्टरता को अपनाने को बाध्य किया।[26]
. इस्लाम के आने से जातिवाद की ज्वाला में जलने वाला भारत समानता और भाईचारे की ओर मुड़ा, सूफी संतों की वाणी से ही तमाम हिंदूवादी संत एकेश्वरवादी विचारों की ओर मुड़े।[27]
. 18वीं शताब्दी तक भारत इन्हीं शासकों तथा बादशाहों के आपसी संघर्षों के साथ इण्डो इस्लामिक युग में था।
. ये तमाम उपलब्धियां अंग्रेजों के आने के बाद बिगड़ गईं। उन्होंने बाँटो और राज्य करो की नीति के तहत देश के हिंदू-मुस्लिम सौहार्द्र को बिगाड़ दिया।

इन तमाम ऐतिहासिक कृत्रिम व्याख्याओं द्वारा देश के युवाओं को एक मिथ्या इतिहास पढ़ाया गया। मुस्लिम आक्रांताओं के बर्बर कृत्यों तथा विध्वंसात्मक कार्यों को सेकुलरवाद तथा हिंदू-मुस्लिम एकता के नाम पर इतिहास की पुस्तकों से बाहर कर दिया गया। इस्लाम का एक उदारवादी इतिहास लिखने का पुरजोर प्रयास किया गया। इसके विपरीत लिखने वालों को अकादमिया में प्रवेश न मिल सके, इसका पुरजोर प्रयास किया गया। रोमेश चंद्र मजुमदार, राधा कुमुद मुखर्जी, यदुनाथ सरकार जैसे ढेरों इतिहासकार तथा लेखक हुए जिन्होंने इतिहास को थोड़ा निष्पक्ष ढंग से लिखने का उपक्रम किया। इन्हें तो थोड़ा बहुत स्थान मिल भी गया, परंतु कोटा वेंकटचलम, भगवद्दत्त, उदयवीर शास्त्री, युधिष्ठिर मीमांसक, गुरुदत्त, पी.एन. ओक,

सीताराम गोयल, रामस्वरूप, के.एस. लाल जैसे विचारकों तथा लेखकों को अकादमिया ने छुआ तक नहीं। वर्ष 1969 के बाद से ही एक विचारधारा विशेष ने केन्द्र सरकार को राजनीतिक समर्थन देकर बदले में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, संघ लोक सेवा आयोग सहित विविध विश्वविद्यालयों आदि में कब्जा जमाया।

मुस्लिम बादशाहों के इतिहास के सच को काफी हद तक इलियट एंड डाउसन ने अपनी पुस्तकों में प्रकट कर दिया था। भारतीय लेखकों में पी.एन.ओक जैसे विद्वानों ने अपनी पुस्तकों में सप्रमाण इन मुस्लिम शासकों को आततायी और बर्बर साबित किया।[28] उन्होंने मुस्लिम आक्रांताओं द्वारा विभिन्न भवनों के निर्माण को भी झूठ साबित किया।[29] रामेश्वर प्रसाद मिश्र पंकज ने अपनी पुस्तक में यह साबित किया है कि दिल्ली सल्तनत कभी भी संपूर्ण भारत में व्याप्त नहीं रही, इसके विपरीत उसकी सीमा काफी छोटी रही है। उन्होंने यह भी दिखाया है कि भारत के कुछेक हिस्सों पर इन आततायियों का कब्जा भले ही हुआ हो, भारत पूरी तरह कभी भी इनका गुलाम नहीं हुआ।[30] सबसे उल्लेखनीय उदाहरण तो विजयनगर साम्राज्य का है, जो कि वर्ष 1336 से वर्ष 1646 तक यानी लगभग 310 वर्षों तक रही, परंतु भारतीय मध्यकालीन इतिहास में उसका उल्लेख नाम मात्र के लिए ही किया जाता है। इसी प्रकार बप्पा रावल, सम्राट ललितादित्य, छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप, अहोम साम्राज्य के लाचिद् बड़फूकन आदि महान हिंदू राजाओं, सम्राटों तथा योद्धाओं के इतिहास को शनैः शनैः इतिहास के पाठ्यक्रमों से बाहर कर दिया गया। इसी प्रकार सामाजिक इतिहास में भी स्त्रियों के प्रति भेदभाव तथा जातीय विसंगतियों को दिखलाने की एक विचित्र सी होड़ देश के अकादमिक जगत में दिखती रही। जबकि अनेक लेखकों ने विविध प्रमाणों से यह स्थापित किया है कि स्त्रियों को प्राचीन काल में हमेशा सम्मानजनक स्थान प्राप्त रहा है[31] और जातिगत छुआछूत आदि भेदभाव प्राचीन काल में कभी नहीं रहा।[32]

आधुनिक भारत का पक्षपाती इतिहासलेखन

सबसे बड़ी विकृति शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक भारत जैसे विषय के साथ की गई। विपिन चंद्र, सुमित सरकार जैसे नामचीन लेखकों की पुस्तकों ने आज की भारतीय पीढ़ी को ऐसे तैयार किया जिससे पूरा भारत एक खास राजनैतिक दल का भक्त बन जाए। अंग्रेजों से संघर्ष के इतिहास को कांग्रेस के इतिहास में बदल दिया गया। कुछेक साम्राज्यवादी अंग्रेजों द्वारा कहे गए अनुसार 1857 के स्वाधीनता समर को सिपाही विद्रोह के रूप में पढ़ाया जाता रहा, जबकि विनायक दामोदर सावरकर ने भारत के प्रथम स्वातंत्र्य समर के नाम से इस पर एक पुस्तक ही लिख रखी है। स्वतंत्रता संघर्ष, आधुनिक भारत के संदर्भ में जो समझ बनाई गई आज यही विचारधारा पूरे भारत में बौद्धिक जमात में बैठी हुई है जैसे -

- भारत की आजादी की लड़ाई तब शुरू हुई जब कांग्रेस की स्थापना हुई।[33]
- उदारवादी, उग्रवादी, गांधीवादी तकनीक रणनीति से देश विचारवान बना।
- क्रांतिकारी देशभक्त थे किन्तु आंतकी व गुमराह रहे।[34]
- मुस्लिम लीग, आर्य समाज, हिन्दू महासभा, आर.एस.एस. जैसी कट्टर संस्थाओं ने सांप्रदायिकता को जन्म दिया।[35]
- अंग्रेजों ने अपनी 'बांटो और राज करो' की नीति के तहत सांप्रदायिक ताकतों को बढ़ाया जिससे पाकिस्तान बना।
- सुभाष चन्द्र बोस फासीवादी विचारों वाले और तानाशाही प्रवृत्ति के थे।[36]

- सांप्रदायिक दंगे ज्यादातर अंग्रेजों द्वारा भड़काए जाते, जिनको मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा वाले चुनावी फायदे के लिए उकसाते रहे।
- गांधी की आहिंसावादी नीतियों से देश बिना खड्ग-ढाल के यानी अहिंसा से आजाद हुआ।
- स्वतंत्र भारत में नेहरू सबसे प्रगतिशील, धर्मनिरपेक्ष, नए युगद्रष्टा, भारत के लिए आइडिया ऑफ इंडिया गढ़ने वाले थे।

ऐसी तमाम मिथ्या विचारधारा को देश-विदेश के समस्त विश्वविद्यालयों में प्रचारतंत्र, सरकारी मिशनरी के सहयोग से जबरिया लादा गया। विपिन चंद्र की 'आजादी के बाद भारत', सुनील खिलनानी की 'आइडिया ऑफ इंडिया', रामचन्द्र गुहा की 'इंडिया आफ्टर गांधी नेहरू' जैसे तमाम लेखकों की किताबों से ऐसी ही विचारधारा फैलाई गई, जो वास्तविकता से कोसो दूर एक वैचारिक ढकोसला का वातावरण बनाते हुए तमाम भारतीयों को वैचारिक दिवालियापन के जंजाल में फसाए रखा।

यही स्थिति राजनीति विज्ञान समेत समाजशास्त्र जैसे विषयों के साथ भी थी। उच्च शिक्षा में वही चुनिंदा विचारकों में नोआम चोमस्की, टेरी रगलटन, पेरी इंडरसन, जैसे विचारों को पढ़ाया जाता रहा वहीं जार्ज अखटे, सैमुएल हैटिंगटन, इब्न उल बराक, बर्ट्रेंड रसल जैसे विचारकों को पढ़ाना तो दूर, इनका नाम लेने से बचा जाने लगा। दिल्ली विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान की किताबें मार्क्सवादी वामपंथी पार्टियों की प्रचार सामग्री का माध्यम मात्र बन कर रह गई। संविधान निर्माण के समय कौन सी बहस हुई, नए-नए राज्य क्यों बनते गए, नागरिकता का पैमाना अन्य देशों में कैसे है, मूल अधिकार में अल्पसंख्यक भावना ने क्या भेदभाव किया है, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सेक्युलरिज्म के नाम पर क्या भेद-भाव किया जा रहा है, न्यायपालिका की लचरता, उफनता भ्रष्टाचार, सरकारी मशीनरी बेलगाम क्यों है, पुलिस प्रशासन का उत्पीडक स्वरूप, संविधान में लगातार होने वाले संशोधनों, सांप्रदायिक झगड़े, अलगावाद-आतंकवाद-नक्सलवाद, पूर्वोन्तर राज्यों का पृथकतावाद, दक्षिण भारत का द्रविड़ आन्दोलन, कश्मीर तथा पंजाब का आंतकवाद जैसी तमाम गतिविधियां क्यों हो रही हैं, ब्रिटिश शासन से इनकी वैचारिक साम्यता कैसी रही, इन समस्याओं को कैसे निपटे, इन तमाम विषयों को उठने ही नहीं दिया गया या भरमाया जाता रहा।

ऐसा नहीं है कि इन तमाम वैचरिक भ्रम जाल से भारतीय मनीषी अन्जान रहे। रामस्वरूप (अंडरस्टैंडिग इस्लाम थ्रु हदीस), सीताराम गोयल (मुस्लिम सेपरेटिज्म, सेक्यूलरिज्म, हाउ आई बिकेम हिन्दू, हिन्दू टेम्पल, हिन्दू सोसाइटी अंडर सीज) की किताबें तत्कालीन इस उच्च शैक्षाणिक मानसिक दशाओं को बखूबी प्रदर्शित करती हैं।

इस एकतरफा उच्च शिक्षा नीति ने भारत में रहने वाले लोगों की मानसिकता को पूर्णतः बदल कर रख दिया। विचारधारा के स्तर में इस देश के उच्च शिक्षित निवासी कुछ विशेष मनोग्रंथियों से आज तक पीड़ित हैं। जैसेः-

- भारत, भारतीयता, भारतीय संस्कृति के प्रति नकारात्मकता की भावना, उच्च शिक्षित लोगों में अगर नहीं भी है तो आज तक संशयात्मक भावना आवश्य है।
- जब तक पश्चिमी यूरोपीय अमरीकी, भारतीयता से जुड़ी किसी भी चीज को सही होने का प्रमाणपत्र न दे तब तक स्वीकार न करना।
- यूरोपीय समाज के तमाम वैचारिक, प्रौद्योगिकीय उपलब्धि के प्रति गहन समर्पण भाव, वो भी तब, जब ये केवल पिछले 200-300 वर्षों की उपलब्धियां है और इसके दुष्परिणाम भी सामने आने लगे हैं।

. यूरोपीय-अमरीकी विचारों को सदैव स्वीकार्य भावना का होना, अस्वीकार्य तभी होगा, जब वे खुद इनकी आलोचना करे।
. यूरोपीय-अमेरिकी विचारों की तुलना भारतीय परम्परा, विचार से करने पर भारतीय समाज के सभी दुर्गुणों की सदैव चर्चा करना।
. हमेशा यूरोपीय अमरीकी विचारकों, संस्थाओं के मानदंड को अपनाना, अपने किसी वैकल्पिक रणनीति, विचारक, तकनीक विकसित करने वाले किसी भी कोशिश को नकारना या बेरुखी प्रदर्शित करना।

ऐसे तमाम उदाहरण और हो सकते हैं। यह तमाम विचारधारा सिर्फ हिन्दू समाज के लोगों के साथ है। वहीं मुस्लिम व ईसाई समाज के लोग उच्च शिक्षित होने के बाद भी अपनी मजहबी मान्यताओं, कट्टर विचारों से गहराई से जुड़े हैं।

प्रश्न उठता है कि इस आत्महीनता और एकपक्षीय स्थिति को कैसे बदला जाए? सरकारी स्तर के प्रयासों से इतर इस शैक्षणिक परिस्थिति को संतुलित कैसे किया जाए? इसके लिए सबसे पहले दुनिया के सभी धर्मों/मजहबों/रिलीजियनों/पंथों के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों का तुलनात्मक अध्ययन अनिवार्य किया जाना चाहिए। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक रिलिजन डिपार्टमेन्ट यानी धर्मशिक्षा विभाग स्थापित किया जाए। धर्म-मजहबों के तुलनात्मक अध्ययन से समाज की वास्तविक मनोदशा का पता चलेगा। इसके माध्यम से वर्तमान में प्रचलित कई मिथकों (दलित, द्रविड़ आन्दोलन, जातिवाद) का वास्तविक यथार्थ बोध होगा। ठीक इसी तरह इस्लाम, पैगबंर मोहम्मद, कुरान, हदीस अन्य इस्लामिक ग्रंथों के अध्ययन से इस्लाम का लगातार 1400 वर्षों का अतीत, सर्वमान्य निष्कर्षों के रूप में सामने आ जाएगा। यही रणनीति ईसाई और अन्य मजहबों में भी अपनाई जा सकती है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण काम है पाठ्यपुस्तकों अथवा संदर्भ पुस्तकों के लेखन तथा चयन में दूसरे पक्षों को शामिल करना। फिर प्राचीन भारत के विषय में यदि एक ओर रोमिला थापर, डी.डी. कौशाम्बी और डी.एन. झा सरीखे लोग होंगे तो दूसरी ओर भगवद्दत्त और कोटा वेंकटचलम जैसे लोग भी होंगे। यदि संदर्भ ग्रंथों में वेंडी डेनीगर कांचा इलैय्या. ए.के.रामानुजन होंगे तो दूसरी तरफ रघुनंदन शर्मा और हरविलास शारदा भी होंगे। इससे विद्यार्थियों पर कोई विचारधारा थोपी नहीं जाएगी और वे स्वयं सच और झूठ का निर्णय कर पाएंगे। इससे कम से कम इतिहास विषय के संदर्भ में प्राथमिक से उच्च शिक्षा तक बनाया भ्रमजाल स्वतः टूट जाएगा। इससे समाजशास्त्र में नए–नए भारतीय विचारक स्वतः जन्म लेने लेंगे, जब ओल्ड टेस्टामेंट, कुरान हदीस के समनान्तर वेद, पुराण, उपनिषद महाकाव्यों का अध्ययन होगा।

तीसरा आवश्यक कार्य है पाठ्यपुस्तकों तथा संदर्भ ग्रंथों में भारतीय शास्त्रों तथा उनके भारतीय भाष्यकारों को शामिल करना। उदाहरण के लिए आज भी रोमिला थापर और डी.एन. झा आदि के लिए वेदों का अर्थ होता है मैक्समूलर तथा ग्रिफिथ का किया वेदभाष्य। वे वेदों को उद्धृत करने के लिए स्वामी दयानंद अथवा योगी अरविंद या सायण के भाष्य को नहीं पढ़ते। इससे वेदों के गलत अर्थ वे लेते हैं और उससे अर्थ का अनर्थ होता है। इसी प्रकार कौटिल्य अर्थशास्त्र, मनुस्मृति आदि ग्रंथों की स्थिति है। सर्वश्रेष्ठ स्थिति तो यह होती है कि लेखक मूल पुस्तकों को उनकी भाषा में ही अध्ययन करे। कम से कम भारतीय लेखकों से यह अपेक्षा तो की ही जाती है। या फिर ऐसे लेखकों की रचनाओं को ही अकादमिया में स्थान दिया जाए जो भारतीय शास्त्रों को उसकी मूल भाषा में पढ़ने में सक्षम हों, केवल अनुवाद और वह भी

अंग्रेजी अनुवाद से काम न चलाते हों। क्या कोई कल्पना कर सकता है कि इंग्लैंड में अंग्रेजी साहित्य का कोई प्रोफेसर शेक्सपीयर को मूल अंग्रेजी में न पढ़ कर उसका हिंदी अनुवाद पढ़ कर वहाँ उसे पढ़ाए? यह वहाँ असंभव है। वैसे ही प्राचीन भारत पर लिखने वाला व्यक्ति यदि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ है तो उसे प्राचीन भारत पर लिखने का अधिकारी कैसे माना जा सकता है?

इन कुछेक कदमों को उठाने से अकादमिया कुछ बौद्धिक संतुलन लाया जा सकता है और इससे देश के युवाओं में व्याप्त आत्महीनता की स्थिति को समाप्त किया जा सकता है। इससे देश की समस्याओं को उनके सही परिप्रेक्ष्य में समझना संभव होगा जिससे उनका समाधान निकाला जा सकेगा।

संदर्भ :

1. फिलिस्तीन शोधकर्ता, एडवर्ड सईद, ओरिटोन्टलिज्म पृ. 7
2. सी. एच. फिलिप्स (द इस्ट इंडिया कंपनी पृ. 191) बिल्वरफोर्स के भाषणों का संग्रह देखे हन्सर्डड (पार्लियामेन्ट डिबेट)
3. जी. पी. गुच, (हिस्ट्री एडं हिस्ट्रोरियन इन द नाइनटिंथ सैंचुरि, पृ. 439)
4. रोमेश चंद्र मजुमदार, (प्राचीन भारत, पृ. 5,6,16) कैम्ब्रिज हिस्ट्री (पृ. 72,73)
5. जी पी गुच (हिस्ट्री एडं हिस्ट्रोरियन इन द नाइनटिंथ सैंचुरी, पृ. 439.40) ?
6. यह बात लगभग सभी अंग्रेज लेखकों ने कही। जेम्स मिल से हेनरी इलियट तक की रचनाओं में अंग्रेजी प्रशासन को मुक्तिदाता बताया गया। रोमिला थापर, हरबंस मुखिया, विपिनचंद्र (इतिहास की सांप्रदायिक व्याख्या, पृष्ठ 12) के साथ पाकिस्तान लेखक मुबारक अली (हिस्टोरियन डिस्पयुट पृ. 4) भी करते हैं।
7. राम शरण शर्मा (प्राचीन भारत, एनसीईआरटी, ओल्ड) रोमिला थापर (प्राचीन भारत का इतिहास) जैसे मार्क्सवादी लेखक यही बताते हैं। इनकी समीक्षा के लिए शंकर शरण (मार्क्सवादी इतिहास लेखन, पृ. 70-93) की पुस्तक पठनीय है।
8. यह बात भी डी.एन. झा, राम शरण शर्मा, रोमिला थापर के किताबों में प्रचुर मात्रा में हैं, डी.एन. झा तो इसको घटाकर 600 ईसा पूर्व ले आते है, पुस्तक के पहले भाग को 'आद्य इतिहास' (जिसका कोई सुनिश्चित प्रमाण नहीं है) श्रेणी में रखते हैं। संपूर्ण उत्तर भारत में पढ़ाई जाने वाली किताब के.सी. श्रीवास्तव (प्राचीन भारत का इतिहास व संस्कृति पृ. 11) इस पर ही लिखा गया है। इनको वामपंथी लेखक 'इतिहास पुराण', 'गाथा साहित्य' जैसे शीर्षकों से बुलाते है। यूजीसी की नेट परीक्षाओं में 2013 तक लगातार यही प्रश्न पूछा जाता रहा है और इतिहास का हर छात्र इस विशेष प्रश्न से परिचित है।
9. डी.एन. झा और श्रीमाली (प्राचीन भारत का इतिहास पृ. 100), हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय। यह विचार भी आईएस, पीसीएस समेत यूजीसी नेट परीक्षाओं में लगातार 15 वर्षों तक पूछा जाता रहा है। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के स्नातक, परास्नातक परीक्षाओं में हर दूसरे वर्ष अनिवार्य रूप से पूछा जाने वाला बेहद चर्चित प्रश्न है।
10. डी.एन. झा और श्रीमाली (प्राचीन भारत का इतिहास पृ. 119-120, हिन्दी माध्यम कार्यन्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय)। इस विषय पर डी.एन. झा के 15 से ज्यादा

लेख उपलब्ध हैं जो आर्य आक्रमण, आर्य द्रविड़ संघर्ष सिद्धान्त को सही ठहराते हैं।

11. डी.एन. झा और श्रीमाली (प्राचीन भारत के इतिहास पृ. 11 हिन्दी माध्यम कार्यावयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय)। इन्द्र के बलात्कारी होने के अतिरिक्त गोमांस खाने, जैसे विषय भी उनके कई एक पूरी किताब उपलब्ध है।
12. डी.एन. झा और श्रीमाली, रामशरण शर्मा के किताबों में यह संदर्भ व्यापक रूप में उपलब्ध है, (प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली विश्वविद्यालय पृ. 145)
13. डी.एन. झा गुप्त काल का मुल्यांकन करते हुए यह सामान्य निष्कर्ष देते है। (प्राचीन भारत पृ. 104-124)
14. डी.एन. झा प्राचीन भारत (पृ. 124)
15. यह संदर्भ भी यूजीसी नेट परीक्षाओं में लगातार पूछा जाता रहा है, वैदिक साहित्य को ब्राहाणवादी कर्मकांडी, पृथ्वीराजरासो जैसे काव्य साहित्य को चाटुकरता जैसा बताया जाता रहा है। (प्राचीन भारत, राम शरण शर्मा, एन.सी.ई.आर.टी. पृ. 11)
16. वैदिक संपत्ति
17. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास,
18. हबीब निजामी, सतीश चंद्र (मध्यकालीन भारत, दिल्ली सल्तनत) के अलावा उत्तर भारत में सबसे ज्यादा पढी जाने वाली पुस्तक, लईक अहमद (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ. 6) में जिक्र है। इन्हें पढ़े बिना कोई प्रतियोगी परीक्षा में उत्तीर्ण होना असभंव है।
19. सतीश चंद्र (मध्यकालीन भारत, पृ. 1 और 7) के अलावा सभी इस्लामिक मदरसों, इस्लामिक साहित्यों के अतिरिक्त सोशल मीडिया के तहत ज्ञानपरक बातें बताने वाले (हिस्ट्री हेरिटेज) लगभग सभी लेखक यही निष्कर्ष देते हैं।
20. मुहम्मद हबीब ने यह निष्कर्ष दिया था और यह हरिश्चंद्र वर्मा (मध्यकालीन भारत, दिल्ली विश्वविद्यालय पृ. 104) के साथ साथ रोमिला थापर, हरबंस मुखिया, इरफान हबीब द्वारा पिछले कई वर्षों से दुहराया जाता रहा है। वर्तमान की एन.सी.ई.आर.टी. की किताबों में भी महमूद गजनवी द्वारा मंदिरों के विध्वंस को चोल राजा के मंदिर तोड़ने की घटना के समान लिख कर एक सामान्यीकरण करने की कोशिश की गई है। इसी तरह कल्हण की राजतरंगिणी में वर्णित श्रीहर्ष को भी मंदिरों का लूटेरा बताया जाता है। (मई ,2002 आउटलुक पत्रिका, द हिन्दू अखबार) अन्य स्रोतों में भी मंदिरों के ध्वंस पर निष्कर्ष दिया गया कि ये धन रखने के केन्द्र थे और विद्रोह का स्थल, मूल जिहाद की बातें जो इस्लामिक साहित्यों समेत मुस्लिम दरबारी लेखकों की किताबों में दर्ज है, उसे सामने ही नहीं आने दिया गया।
21. हरिश्चंद्र वर्मा (मध्यकालीन भारत, हिन्दी माध्यम क्रियान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय पृ. 188)
22. सतीश चंद्रा (मध्यकालीन भारत, पृ. 106)
23. सतीश चंद्रा (मध्यकालीन भारत पृ. 111)
24. लईक अहमद (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ. 134)
25. लईक अहमद (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ. 114)
26. सतीश चंद्र के विचार जो हरिश्चंद्र वर्मा (मध्यकालीन भारत दिल्ली विश्वविद्यालय पृ. 651) में वर्णित है।

27. लईक अहमद (मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ. 6), यह विचार लगभग सभी मुस्लिम लेखकों का रहा है। खलिक अहमद निजामी ने सूफी वर्चस्व या प्रभाव से भक्ति आंदोलन को जन्मा वर्णित किया है, जिसका अनुकरण ज्यादातर लेखकों द्वारा किया गया है। आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव जैसे निष्पक्ष लेखक भी इसके चपेट में आ गए है। इस संदर्भ में शंकर शरण की पुस्तक (इस्लाम, राजनीति एवं डा. अम्बेडकर पृ. 25–43) इसका अच्छा मूल्यांकन करती है।
28. भारत में मुस्लिम सुल्तान
29. भारत में मुस्लिम सुल्तान
30. कभी पराधीन नहीं रहा है भारत
31. स्त्रीत्व
32. ब्रेकिंग इंडिया
33. विपिन चंद्र (स्वतंत्रता सघर्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय पृ. 38) ने इस परंपरा की शुरूआत की, सुमित सरकार (आधुनिक भारत) भी इसी कड़ी में हैं। बाद में स्वतंत्रता संघर्ष शब्द से ज्यादा आधुनिक भारत का प्रयोग किया जाने लगा, लेकिन अभी भी लगभग सभी प्रचलित किताबे 'कांग्रेस केन्द्रित' है, अन्य विचारधाराएं, नेतृत्व और गतिविधियां एकदम गौण अवस्था में हैं।
34. विपिन चंद्र (स्वतंत्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम क्रियान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय पृ. 198)
35. विपिन चंद्र (पृ. 333–354) सुमित सरकार आधुनिक भारत पृ. 77,140,175)
36. आई.ए.एस. परीक्षा समेत यूजीसी नेट परीक्षा में बार बार पूछा जाने वाला प्रश्न जो विपिन चंद्र के विविध लेखों (भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पृ. 11) पर आधारित रहा, कई सेमिनारों में यह दोहराया गया है।

MHM

भारत में विज्ञान शिक्षण चुनौतियाँ और संभावनाएं

रवि शंकर

आज भारत में विज्ञान की शिक्षा काफी कठिन मानी जाती है। पढ़ने में तेज छात्र ही आगे की कक्षाओं में विज्ञान लेने की हिम्मत कर पाते हैं। यदि कोई विज्ञान पढ़ रहा है, तो उसे तेज विद्यार्थी मान लिया जाता है। विज्ञान को भावी जीवन में आजीविका और सफलता की कुंजी माना जाता है। स्वाभाविक ही है कि विज्ञान पढ़ना छात्रों के लिए एक फैंटेसी बन जाती है। एक ऐसी फैंटेसी, जो जीवन में हर प्रकार की सफलता की गारंटी है। विद्यार्थी के विज्ञान विषय का चुनाव करते ही माता-पिता निश्चिंत हो जाते हैं कि अब कॅरियर तो अच्छा हो ही जाएगा। विज्ञान लेने वाला विद्यार्थी भी 12वीं कक्षा से आगे विज्ञान नहीं पढ़ना चाहता। वह इसके बाद इंजीनियरिंग अथवा मेडिकल की पढ़ाई के लिए प्रयास करता है। वर्तमान में इंजीनियरिंग में भी कम्प्यूटर तथा इलेक्ट्रॉनिक्स लेने की प्राथमिकता होती है। कुल मिला कर विज्ञान की पढ़ाई केवल कॅरियर की दृष्टि से अच्छी मानी जाती है। विज्ञान की पढ़ाई लोगों में वैज्ञानिक सोच नहीं पैदा करती और न ही कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्राप्त करने के लिए विज्ञान का अध्ययन करता है। सच तो यह है कि भारत में विज्ञान की पढ़ाई फैशन, फेथ यानी आस्था या अंधविश्वास तथा फैंटेसी यानी कल्पना जगत की चीज बन गया है।

विज्ञान की शिक्षा भारत में एक प्रकार का फैशन है। पढ़ने में तेज विद्यार्थी हो तो कोई भी उसे इतिहास या राजनीतिशास्त्र पढ़ने का सुझाव नहीं देगा। यह मानकर चला जाता है कि उसे विज्ञान ही पढ़ना चाहिए। कोई तेज विद्यार्थी यदि संस्कृत पढ़ने की सोचे तो इसे पिछड़ी सोच माना जाएगा। इसलिए विज्ञान की शिक्षा भारत में एक फैशन ही है। विज्ञान की चर्चा भी भारत में एक फैशन है। किसी भी बात में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने का सुझाव कोई भी आम आदमी सहजता से दे देता है। स्थिति यह हो गई है कि अनेक विषयों को विज्ञान का दर्जा प्रदान कर दिया गया है। उदाहरण के लिए राजनीतिशास्त्र राजनीतिविज्ञान बन गया है, गृहशास्त्र गृहविज्ञान बन गया है, योगशास्त्र मनोविज्ञान बन गया है। इतिहास को भी वैज्ञानिक तरीके से पढ़ाने की

बात कही जाती है। विज्ञान एक ऐसा फैशन हो गया है, इसे किसी भी विषय में मिला दिया जा सकता है, इसे मिलाते ही हर विषय अचानक से सही हो जाता है। किसी बात को गलत साबित करने के लिए उसपर अवैज्ञानिक होने का आरोप भर पर्याप्त होता है।

विज्ञान भारत में आस्था या अंधविश्वास भी बन गया है। आज भारत में विज्ञान वही है जो यूरोपीय और अमेरिका जैसे नवयूरोपीय देशों में पैदा हुआ है। गैलीलियो, न्यूटन, आईंसटीन आदि वैज्ञानिक हैं, परंतु कणाद, चरक, भास्कराचार्य आदि प्राचीन काल के वनमानव। डाल्टन और रदरफोर्ड के सिद्धांत वैज्ञानिक सिद्धांत हैं, परंतु कणाद और कपिल के सिद्धांत केवल दार्शनिक उहापोह के विषय। हाइजेनबर्ग का अनिश्चितता का सिद्धांत विज्ञान है, परंतु जैनों का स्यादवाद विज्ञान नहीं है। विज्ञान का यह अंधविश्वास अंग्रेजी को ही विज्ञान का एकमात्र माध्यम मानता है। संस्कृत और अन्यान्य भारतीय भाषाएं तो पिछड़ेपन की प्रतीक हैं। भाषा का यह दुराग्रह इतनी दूर तक जाता है कि पादप विज्ञान में लैटिन भाषा के नामों को वैज्ञानिक या बोटॉनिकल नाम कहा जाता है। ऐसा करने वालों को यह पता है कि लैटिन भाषा बोलने और समझने वाला दुनिया में कठिनाई से ही कोई मिलता है, और ये नाम कोई स्पष्ट अर्थ भी नहीं देते हैं, परंतु विश्वस्तरीय स्वीकृति के कारण इनका उपयोग किया जाता है।[1] समझने की बात है कि विश्वस्तरीय स्वीकृति का अर्थ केवल यूरोपस्तरीय स्वीकृति ही है। इसे हम एक प्रकार का अकादमिक साम्राज्यवाद भी कह सकते हैं, जो यूरोपीय लोगों ने विश्व पर थोप रखा है। प्रश्न उठता है कि इन वैज्ञानिक अथवा बोटॉनिकल नामों को विश्व के कितने लोग जानते हैं? केवल वही लोग जो पादप विज्ञान की पढ़ाई कर रहे होते हैं, परंतु मजे की बात यह है कि वे भी केवल पढ़ाई करने तक ही उन नामों को याद रख पाते हैं, अधिकांश लोग यदि उसी विषय के शिक्षक नहीं बन पाए या उसी क्षेत्र में कोई अन्य काम नहीं ढूंढ पाए तो उन नामों को भूल जाते हैं। परंतु वे उसका स्थानीय नाम नहीं भूलते। स्पष्ट है कि पौधों के नामों को केवल विज्ञान के नाम पर पूरे विश्व पर थोपना एक प्रकार का अंधविश्वास तथा साम्राज्यवाद ही है।

भारत में विज्ञान शिक्षण एक प्रकार की फैंटेसी भी है। विज्ञान के छात्रों को प्रारंभ में लगता है कि विज्ञान पढ़ते ही वे वायुयान बनाने लग जाएंगे या विभिन्न प्रकार के रसायन बनाने लग जाएंगे। वे कुछ नई वैज्ञानिक खोज कर डालेंगे। विज्ञान परिकथाओं को पढ़ कर अथवा उसकी फिल्में देख कर बड़े होते किशोरों को विज्ञान बहुत ही आकर्षक लगता है। इस आकर्षण में वे खिंचे चले आते हैं, परंतु यहाँ आने के बाद उन्हें पता चलता है कि यह तो बहुत ही ऊबाऊ और कठिन है। स्नातक तक की पढ़ाई तक भी वे कोई सार्थक प्रयोग करना नहीं सीख पाते। छठी कक्षा के बच्चों में ही प्रयोग करने की बड़ी उत्कंठा होने लगती है, परंतु जो विज्ञान उन्हें पढ़ाया जाता है, उसका कोई भी प्रयोग वे स्वयं कर नहीं पाते, चाहे वह उनकी पाठ्यपुस्तकों में ही क्यों न वर्णित हो। प्रयोग करने की उनकी यह ललक उन्हें आगे पढ़ने के लिए प्रेरित करती रहती है, जो आगे चल कर धीमे-धीमे समाप्त होने लगती है और वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण होने की बजाय विज्ञान के अंधविश्वासी के रूप में बड़े होने लगते हैं।

कुल मिलाकर स्थिति यह है कि देश में विज्ञान की शिक्षा सर्वाधिक बुरी अवस्था में है। जहाँ एक ओर तेज विद्यार्थियों में विज्ञान पढ़ने की ललक होती है, वहीं सामान्य विद्यार्थी विज्ञान के नाम से ही घबड़ाते हैं। स्थिति ऐसी है कि ग्रामीण क्षेत्रों में विज्ञान पढ़ने के लिए विद्यार्थी मिलते ही नहीं। सरकारें भी इस बात को समझती हैं और इसलिए उनका जोर भी केवल कला विषयों पर ही होता है। उदाहरण के लिए राजधानी दिल्ली में 30 प्रतिशत से भी कम स्कूलों में विज्ञान की पढ़ाई होती है। दिल्ली में 12वीं की परीक्षा में बैठने वाले बच्चों में केवल सात प्रतिशत बच्चे

विज्ञान के होते हैं। दिल्ली में हर साल विज्ञान लेकर पढ़ने वाले बच्चों की संख्या लगातार घटती जा रही हैं। विज्ञान पढ़ाने वाले शिक्षकों के लगभग आधे पद खाली हैं। 25 प्रतिशत बजट के बावजूद विज्ञान की पढ़ाई केवल छह स्कूलों में शुरू की गई। दिल्ली सरकार की शिक्षा सलाहकार आतिशी ने अपने एक बयान में यह स्वीकार किया कि सरकार कम संख्या होने पर बच्चों को विज्ञान पढ़ने की सुविधा उपलब्ध नहीं करा सकते हैं। दिल्ली के स्कूलों में जहां विज्ञान उप्लब्ध हैं वहां सभी बच्चे अपनी मर्जी से विषय नही चुन सकते हैं। कई तरह के बाधाओं से गुजरते हुए वे विज्ञान ले पाते हैं। विज्ञान लेने वाले अधिकतर बच्चें और विज्ञान में टॉपर राजकीय प्रतिभा विकास विद्यालय के ही बच्चे होते हैं, जिनकी स्थापना 1998 से 2013 के बीच हुई थी।[2] यदि देश की राजधानी दिल्ली में विज्ञान शिक्षा का यह हाल हो तो हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि देश के सुदूर इलाकों में विज्ञान शिक्षा की स्थिति क्या होगी। विचार करने की बात यह है कि आखिर विज्ञान की शिक्षा इतनी कठिन क्यों है? आखिर विद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा उपलब्ध कराना कठिन क्यों है? विज्ञान के शिक्षकों की इतनी अधिक कमी क्यों है? सामान्य विद्यार्थी विज्ञान के विषय से आखिर क्यों घबराता है?

इन समस्याओं के समाधान को समझने के लिए सबसे पहले हम पड़ताल करते हैं कि अंग्रेजी और वर्तमान विज्ञान की शिक्षा का उद्देश्य क्या है। क्या यह हमें ज्ञानवान बनाने के लिए दी जाती है या फिर क्या यह हमें कौशलयुक्त बनाने के लिए दी जाती है? या इस शिक्षा का उद्देश्य ही कुछ भिन्न है? भारत में इस शिक्षा का जनक लार्ड मैकॉले को माना जाता है। स्वयं मैकॉले इस शिक्षा के बारे में क्या सोचते थे? मैकॉले के भाषणों को पढ़ा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अंग्रेजी शिक्षा के प्रबल पक्षधर थे। उनका स्पष्ट मानना था कि अंग्रेजी ही विज्ञान की एकमात्र भाषा हो सकती है। भारत की भाषाएं विज्ञान पढ़ाने के लिए सक्षम नहीं हैं। इस बात को मैकॉले ने एक नहीं, कई-कई बार कहा है।[3] परंतु क्या मैकॉले का उद्देश्य भारतीयों को विज्ञान की शिक्षा देना था? मैकॉले अपने पिता को लिखते हैं, 'हमारे अंग्रेजी विद्यालय बहुत अच्छे से फल-फूल रहे हैं। इसे चाहने वाले सभी लोगों तक इसे पहुँचाने में हमें कठिनाई हो रही है, बल्कि कुछेक स्थानों पर तो यह शिक्षा दे पाना असंभव ही रहा है। अकेले हुगली में 14 सौ लड़के अंग्रेजी पढ़ रहे हैं। हिन्दुओं पर इस शिक्षा का विलक्षण प्रभाव पड़ा है। इस शिक्षा को पाने वाला कोई भी हिन्दू अपने धर्म से गंभीरता से जुड़ा नहीं रहता। कुछ लोग नीतिगत रूप से इसका पालन करते रहते हैं, परंतु कुछ ईसा पर विश्वास करने लगते हैं और कुछ ईसाइयत स्वीकार लेते हैं। यह मेरा पक्का विश्वास है कि यदि शिक्षा की हमारी यह योजना ठीक से चलाई जाए तो आने वाले 30 वर्षों में बंगाल के सभ्य समाज में एक भी मूर्तिपूजक नहीं बचेगा। और यह उन्हें कोई प्रलोभन दिए बिना और उनकी धार्मिक स्वतंत्रता से छेड़छाड़ किए बिना, केवल ज्ञान और उसके प्रभाव के सहज प्रचार से किया जा सकेगा। मैं इस भविष्य की कल्पना से बहुत ही संतुष्ट और प्रसन्न हूँ।'[4]

मैकॉले की इस मानसिकता का निर्माता जेम्स मिल को माना जाता है। जेम्स मिल ईस्ट इंडिया कंपनी के नीतिनिर्धारकों में से एक थे। जहीर बाबर लिखते हैं, 'अपनी प्रमुख पुस्तक हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया में जेम्स मिल ने यह प्रदर्शित करने में काफी परिश्रम किया है कि भारतीय विज्ञान और तकनीकी में रचनात्मकता और तकनीकी कौशल का घोर अभाव है। मिल के इन्हीं निष्कर्षों को टी बी मैकॉले ने भी लिखा है, जो कि मैकॉले के भारतीय चिकित्सा सिद्धांतों, जिसे वे अंग्रेजी सिद्धांतों से काफी कमतर आंकते हैं, और भारतीय खगोलज्ञान जिसे वे अंग्रेजी छात्राओं के लिए हँसी का विषय मानते हैं, के संबंध में व्यक्त विचारों में देखा जा सकता है।'[5]

जहीर इसके पहले बताते हैं कि 'उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य आते-आते औपनिवेशिक भारत राज्य द्वारा प्रायोजित विज्ञान और तकनीकी उद्यम का आज की तुलना में भी सबसे बड़ा केंद्र बन गया था। औपनिवेशिक शासन के दौरान, भारत एक प्रकार की सामाजिक प्रयोगशाला बन गया था, जहां संस्थान-निर्माण में ढेर सारे प्रयोगों की योजना बनाई जा रही थी और उनका क्रियान्वयन किया जा रहा था। साथ वैज्ञानिक संस्थानों के विकास के उस अनुभवों का ब्रिटेन में लाभ उठाया जाना था। इसके साथ ही भारतीय विज्ञान और तकनीकी को संरक्षण देने वाली नीतियों में ह्रास आने लगा था और उन्हें हटाया जाने लगा था।'[6] इस प्रक्रिया से देश में सामाजिक परिवर्तन आने लगा था। विज्ञान और तकनीकी से ही उद्योग और व्यापार प्रभावित होते हैं, स्वाभाविक ही था कि ब्रिटिश सरकार की नीतियों से स्थानीय उद्योग-धंधे नष्ट हो रहे थे और अपना अस्तित्व बचाने के लिए लोगों को अपना तौर-तरीका बदलना पड़ रहा था, परंतु इससे भारतीय समाज का हित नहीं सध रहा था। ये परिवर्तन भारतीय समाज के हित के लिए थे भी नहीं। जैसा कि जहीर लिखते हैं, 'इस प्रक्रिया की परीक्षण करने से तीन परस्पर जुड़े मुद्दे विस्तार से सामने आते हैं। पहला मुद्दा है, जिनसे उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटिश इंडिया के वैज्ञानिक तथा तकनीकी परियोजनाओं को औपनिवेशिक नीतियों के साथ अंतरंगता के साथ जोड़ने के बहुविध उपाय। पश्चिमी विज्ञान और तकनीकी ने औपनिवेशिक साम्राज्य को फैलाने और औपनिवेशिक ताकत को मजबूत बनाने में सक्रिय भूमिका निभाई थी।'[7]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अंग्रेजी शिक्षा में केवल यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की शिक्षा दी जानी थी। भारतीयों को ईसाई बनाने में भारतीय साहित्य और विज्ञान तो उपयोगी होते नहीं, इसलिए इस शिक्षा का साधन यूरोपीय साहित्य और विज्ञान ही था। मैकॉले के जीवनीकार और भतीजा जार्ज ओट्टो ट्रेवेलिन लिखते हैं, 'लार्ड विलियम बैन्टिक ने भारत के निवासियों में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की शिक्षा का प्रचार करने के ब्रिटिश सरकार के महान उद्देश्य की पूर्ति करने का निश्चय किया। सार्वजनिक निर्देश समिति से सेवानिवृत्त दो प्राच्यविदों, अनेक अंग्रेज और देशी नए सदस्यों आदि की इसके लिए नियुक्ति की गई और ऊर्जा से भरे तथा अपने लक्ष्य के प्रति तत्पर मैकॉले को इसका अध्यक्ष बनाया गया।'[8] इससे यह स्पष्ट है कि आज की विज्ञान शिक्षा जो कि ब्रिटिश सरकार द्वारा चलाई जा रही विज्ञान शिक्षा का ही विस्तार है, केवल यूरोपीय विज्ञान की शिक्षा के लिए समर्पित है। साथ ही इसका उद्देश्य भारतीयों को विज्ञान और तकनीकी से मजबूत बनाना नहीं, बल्कि औपनिवेशक साम्राज्य को मजबूत बनाना था। यह बात उस समय के यूरोप और भारत के वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान की तुलना करने से भी स्पष्ट हो जाता है। इसका एक तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट कर देगा कि वास्तव में यूरोपीय विज्ञान की शिक्षा भी प्रकारान्तर से ईसाइयत के प्रोत्साहन के लिए ही दिए जाने के प्रयासों का ही एक हिस्सा थी, न कि भारतीयों को ज्ञानवान और अधिक कौशलयुक्त बनाने के प्रयासों का।

हालाँकि यूरोप में पुनर्जागरण का काल 14वीं शताब्दी से ही माना जाता है, परंतु यदि हम तथ्यों को देखें तो यूरोप का वास्तविक पुनर्जागरण 16वीं शताब्दी से हुआ। 16वीं शताब्दी से ही वहाँ दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में अधिकांश उपलब्धियां दिखने लगती हैं। यह जानना रोचक हो सकता है कि सोलहवीं, सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में भारतीयों के मतांतरण में यूरोपीय मिशनरियों को जो बड़ी बाधाएं आईं, उनमें ब्राह्मणों के अलावा एक प्रमुख बाधा थी भारत का ज्ञान-विज्ञान। आज के विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए यह जानना निश्चित रूप से आश्चर्यजनक होगा कि भले ही आज विज्ञान के सभी सिद्धांतों का आविष्कर्ता हम यूरोपीय लोगों को मानते हों, परंतु उन्नीसवीं शताब्दी तक स्थिति एकदम इसके विपरीत थी। उन्नीसवीं शताब्दी तक यूरोप

ज्ञान-विज्ञान में एकदम पिछड़ा और भारत बहुत ही आगे था। प्रो. सी एस मोहनवेलू लिखते हैं, 'जर्मन मिशनरी विलियम टोबियस रिंगेलटौबे (1770-1816) ने बिल्कुल सही ही लिखा है कि तमिलनाडू में ईसा का प्रचार करने आई जर्मन मिशनरियों की गतिविधियों को आध्यात्मिक लकवा मार गया था। ऐसा हुआ था भारत के स्थानीय समाज के कारण जिसकी बहुआयामी भाषिकता तथा सांस्कृतिक और सामाजिक-आर्थिक गुणों ने वर्ष 1505 से भारत आए दर्जनों जर्मनों को पूरी तरह आकर्षित कर लिया था। छोटी चींटियों से लेकर विशाल हाथी तक, नन्हीं जड़ी-बूटियों से लेकर विशाल बरगद वृक्ष तक, नवजात शिशु से लेकर शतायु वृद्धों तक, पालकियों पर बैठने वाले धनियों से लेकर पैदल चलने वाले गरीबों तक, कुछ भी उनकी आँखों से नहीं छूटा और जिसका परिणाम था उनके हजारों डायरियां, पत्र, यात्रा वृत्तांत और स्थानीय साहित्य तथा कलाकृतियों का संग्रह।'[9] इन डेनिश और जर्मन मिशनरियों ने जो कुछ दर्ज किया है, उसे पढ़ने से काफी कुछ स्पष्ट हो जाता है।

मिशनरियों के भारत के विज्ञान संबंधी विवरणों को देखने से पहले यह देखना रोचक रहेगा कि सोलहवीं, सत्रहवीं और अठ्ठारहवीं शताब्दी में यूरोप में विशेषकर अंग्रेजी, जर्मन और डेनिश लोगों में विज्ञान की स्थिति क्या थी।[10] यूरोप में युनिवर्सिटी का अर्थ विश्वविद्यालय नहीं था। इसे समझना हो तो हम एक उद्धरण देख सकते हैं। ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी का इतिहास लिखते हुए हैस्टिंग्स रैशडॅल लिखते हैं, 'उत्तरी यूरोप में परिस्थितियों के स्वतः विकास से पैदा हो रही युनिवर्सिटियां हमेशा से कैथेड्रल या वृहद कॉलेजिएट चर्चों से जुड़ी होती थीं, मौनेस्ट्री से नहीं और ऑक्सफोर्ड अपने विद्यालयों के विकास के लिए किसी कैथेड्रल या कॉलेजिएट चर्च से जुड़ा नहीं रहा। उत्तरी यूरोप में सभी विद्यालय अनिवार्य रूप से किसी स्थानीय चर्च अधिकारी के निगरानी में ही स्थापित किए जाते थे, जबकि ऑक्सफोर्ड के मालिक व्यावहारिक रूप से स्वाधीन होते थे और जहाँ तक उनके विद्यालयों में चर्च के नियमों के पालन की बात होती थी, उन्हें अपने निरीक्षक नियुक्त करने की छूट थी, जोकि केवल दूरस्थित लिंकोन के बिशप के प्रति ही उत्तरदायी होता था।'[11] हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कैथेड्रल, कॉलेजिएट, मोनास्ट्री आदि केवल चर्च के विभिन्न स्तरों के सत्ता-केंद्र थे और ये सभी समस्त आपसी विरोधों और संघर्षों के बाद भी मूलतः ईसाई मत के केंद्र मात्र ही थे। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि चर्च के तंत्र में युनिवर्सिटी भी वास्तव में एक प्रकार का सत्ता केंद्र ही था। युनिवर्सिटी शब्द का जन्म किसी शिक्षामूलक विषय से नहीं हुआ है, बल्कि यह शब्द तब अस्तित्व में आया, जब पेरिस में ऐसे ही एक कॉलेजिएट में एक जर्मन विद्यार्थी का स्थानीय निवासियों के साथ खराब शराब बेचने के कारण झगड़ा हो गया जो कि बाद में कॉलेजिएट के अधिकारियों और स्थानीय निवासियों के झगड़े में बदल गया। वह झगड़ा इतना बढ़ा कि उसमें राजा को हस्तक्षेप करना पड़ा। तब कॉलेजिएट के अधिकारियों और विद्यार्थियों ने एक संगठन बनाया जिसे तत्कालीन लैटिन भाषा में युनिवर्सिटास कहा गया। उन्होंने स्वयं को युनिवर्सिटी ऑफ मास्टर्स एंड स्टूडेंट्स ऑफ पेरिस का प्रवक्ता के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने लिए स्थानीय निवासियों से अधिक कानूनी अधिकारों की मांग की और राजा ने जब उनके अधिकारों को मान्यता प्रदान की, तब उनके संगठन को ही युनिवर्सिटी कहा जाने लगा। इस प्रकार युनिवर्सिटी शब्द किसी भी प्रकार से शिक्षा से जुड़ा शब्द नहीं है, यह सत्ता के संघर्ष में पैदा हुए राजनीतिक संगठन से जुड़ा शब्द है।[12]

हैस्टिंग्स ने पुस्तक के तीन भागों में इटली, स्पेन, फ्रांस, इंग्लैंड, डेनमार्क, जर्मनी आदि यूरोप के सभी भागों में स्थापित विश्वविद्यालयों के इतिहास और वहाँ पढ़ाए जाने वाले विषयों

का विवरण दिया गया है। इनको पढ़ने से पता चलता है कि इटली के विश्वविद्यालयों में प्रारंभ से ही थियोलॉजी यानी ईसाई मजहबी सिद्धांतों, भाषा (ग्रीक, लैटिन आदि), चिकित्साशास्त्र और खगोलशास्त्र की पढ़ाई होती थी। परंतु हमें यह भी ध्यान होना चाहिए कि कम से कम सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोप का खगोलशास्त्र और चिकित्साशास्त्र का ज्ञान काफी सीमित था और अशुद्ध भी था। इसका कारण था कि वे इनके लिए भी बाइबिल पर ही निर्भर थे। वर्ष 1582 तक यूरोपीयों को लीप इयर की जानकारी नहीं थी और इसलिए उनके वर्षों की गणना में गड़बड़ियां थीं, जिसके कारण वर्ष 1582 में पोप ग्रेगरी ने आदेश जारी किया कि 04 अक्टूबर को इस वर्ष का 14 अक्टूबर समझा जाये। स्पष्ट है कि यूरोप की यूनिवर्सिटियां मुख्यतः ईसाइयत की शिक्षा की ही केंद्र थीं। वर्ष 1642 में गैलीलियो चर्च की कैद में इसलिए मर गए क्योंकि उन्होंने सूर्य को पृथिवी का चक्कर लाने वाला कहने से इनकार कर दिया था। वर्ष 1795 में पहली बार जेम्स हट्टन ने कहा कि पृथिवी की आयु को 4004 ईसा पूर्व नहीं माना जा सकता, यह उससे काफी अधिक पुरानी है। वर्ष 1860 में डार्विन के विकासवाद का सिद्धांत दिए जाने तक यूरोप में यही माना जाता था कि पूरी सृष्टि केवल छह दिनों में बना दी गई।[13]

अट्ठारहवीं शताब्दी तक आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में डॉक्टर बनने के लिए कुल छह वर्षों का पाठ्यक्रम होता था, जिसमें चार वर्ष तक उन्हें केवल हिप्पोक्रेटस की दो पुस्तकों थियोरिका और प्रैक्टिका का अध्ययन करना होता था और उसके बाद दो वर्ष तक रिजेंट के विद्यालयों में अभ्यास करना होता था। हिप्पोक्रेटस के अलावा एक-दो पुस्तकें और भी थीं, परंतु वे भी उसकी विचार समूह की थीं। हिप्पोक्रेटस पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व के एक विद्वान थे और उनके चिकित्सा शास्त्र के सिद्धांत थोड़े बदले हुए रूप में मूलतः आयुर्वेद के सिद्धांतों पर ही आधारित थे, परंतु आयुर्वेद की भांति उन्हें शरीररचना और रोगों की पहचान और निदान की जानकारी नहीं थी।[14] आज के अधिकांश विषय जिसमें भूगोल, भूगर्भशास्त्र, रसायन, भौतिकी आदि सभी शामिल हैं, यूरोप में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में ही विकसित हुए हैं। ऐसे में जब बैंन्टिक और मैकॉले भारत में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की शिक्षा देने की बात कर रहे थे, तो इसका सीधा अर्थ ईसाइयत की शिक्षा ही थी। इस बात को प्रमाणित करने के लिए और भी हजारों प्रमाण हैं, जिन पर विस्तार से एक पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है।

उपरोक्त विवरण यह स्पष्ट कर देता है कि 1. भारत में आज दी जाने वाली विज्ञान शिक्षा, विशुद्ध विज्ञान की शिक्षा नहीं है, यह विज्ञान के केवल यूरोपीय अनुसंधानों के इतिहास की शिक्षा है और 2. इसका उद्देश्य केवल भारतीयों को अहिन्दू बनाना था, न कि एक सजग विज्ञानी बनाना। यही कारण भी है कि विज्ञान भारत में लोकमानस से कटा हुआ भी है। वह केवल कटा हुआ ही नहीं है, बल्कि वह लोकमानस के विरोध में भी है। भारत के लोकमानस में भारत का परंपरागत विज्ञान लाखों वर्षों से रचा-बसा हुआ है। पिछड़े से पिछड़े गाँवों के अनपढ़ लोग भी विज्ञान यानी प्रकृति के नियमों के बारे में बहुत कुछ सटीक जानते हैं और उसके अनुसार वे जीवन जीते हैं। आज का विज्ञान शिक्षण न केवल उनके इस ज्ञान की उपेक्षा, बल्कि विरोध भी करता है और साथ ही उसके विरूद्ध जीवन जीना सिखाने का प्रयास करता है। इसका स्वाभाविक परिणाम होता है कि सामान्य विद्यार्थी विज्ञान शिक्षण से सीधे जुड़ नहीं पाते हैं। इसलिए भारत में आज का विज्ञान शिक्षण कठिन और अबोधगम्य बना हुआ है।

इसका एक बड़ा उदाहरण वर्ष 1987 में देश के प्रमुख विज्ञानियों द्वारा निकाला गया विज्ञान जत्था है। उल्लेखनीय है कि वर्ष 1987 में देश में विज्ञान की चेतना जगाने और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रचार करने के लिए एक विज्ञान जत्था निकाला गया था, जिसके तहत विज्ञानियों

के एक दल ने पूरे देश में भ्रमण किया था। यदि हम उस विज्ञान जत्थे के उद्देश्यों को पढ़ेंगे तो उससे बैन्टिक और मैकॉले के शब्द गूंजते हुए ही प्रतीत होंगे। कलाकारों का एक जत्था भी इस विज्ञान जत्थे के साथ चलता था। वह विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए विभिन्न प्रकार के नुक्कड़ नाटक आदि रंगारंग कार्यक्रम करता था। एक वर्णन के अनुसार, 'इन मंचनों की विशेषता थी इनमें निहित संदेश जिनमें आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता, साक्षरता, रोगों के संबंध में भ्रांतियां, अज्ञानताजन्य अंधविश्वास और उनके कुपरिणाम, अधिकारों के प्रति जागरूकता, प्रकृति और पर्यावरण और सामाजिक बुराइयों के कथानक दक्षता से पिरोये थे और प्रभावशाली ढंग से अभिनीत किए गए थे।'[15] स्पष्ट है कि इनमें से आत्मविश्वास, साक्षरता, अधिकारों के प्रति जागरूकता आदि बातों का विज्ञान से कोई लेना-देना नहीं था। रोगों के संबंध में भ्रांतियां, अज्ञानताजन्य अंधविश्वास, सामाजिक बुराइयां आदि प्रकारांतर से लोक में निहित भारतीय विज्ञान का विरोध करने का माध्यम भर थे, न कि विज्ञान को जानने का साधन। विज्ञान जत्था की पूरी संकल्पना विज्ञान के प्रचार प्रसार से अधिक एक प्रकार से भारतीयों के यूरोपीयकरण करने की ही थी, जो कि बैन्टिक और मैकॉले का परम उद्देश्य था।

भारतीय परंपराओं में निहित विज्ञान के सूत्रों का अध्ययन करने की बजाय केवल उनका अंधा विरोध करने की विकृत मानसिकता के अलावा इस जत्थे की एक बड़ी समस्या इसका राजनीतिक झुकाव भी था। दिल्ली विश्वविद्यालय के पादपविज्ञान विभाग के सेविनिवृत्त प्राध्यापक डॉ. राजेंद्र गुप्ता बताते हैं कि 'प्रारंभ में वे भी इस विज्ञान जत्थे से जुड़े थे। परंतु इस जत्थे के द्वारा मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का एजेंडा चलाया जाने लगा था। माकपा और भाकपा के कैडर इसमें लगे हुए थे और वे इसे राजनीतिक रंग देने में जुटे हुए थे। इस कारण वे इस जत्थे से अलग हो गए।'[16] राजनीति के कब्जे में फंसे इस जत्थे में विज्ञान की चर्चा कितनी हो पाती होगी, यह समझना सरल ही है। होना तो यह चाहिए था कि यह विज्ञान जत्था भारत के पारंपरिक देश भर में बिखरे पड़े लुहार, मूर्तिकार, कीमियागर आदि कारीगरों और आयुर्वेद के परंपरागत वैद्यों से मिल कर उनके ज्ञान और विज्ञान को जानने का प्रयास करता, उनके विज्ञान को आज की भाषा में समझाने और उसे पाठ्यक्रम तथा विद्यार्थियों से सीधा जोड़ने के उपाय ढूंढता। इसके विपरीत वह राजनीति में उलझ गया, जो कि आज के विज्ञान का मूल और स्वाभाविक उत्स है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि भारत की विज्ञान शिक्षा और विज्ञान संबंधी समझ मूलतः अभारतीय, यूरोपीय और ईसाइयत से परिपूर्ण है। उसे भारत की विज्ञान-परंपरा की न केवल जानकारी नहीं है, बल्कि वह उससे इतनी अधिक दूर है कि उसके विरोध में खड़ी है। होना तो यह चाहिए था कि भारत में विज्ञान को पढ़ाने का तरीका यूरोपीय तरीके से बिल्कुल भिन्न होता। इसका कारण यह है कि भारत में विज्ञान की एक विशेष परंपरा रही है। साथ ही भारत में दर्शन का उच्चतम विकास हुआ है। यह बात तो आज के आधुनिकतम विज्ञानी भी स्वीकार करते हैं कि सभ्यतागत तथा सांस्कृतिक आयामों को ध्यान में रखकर ही विज्ञान की शिक्षा होनी चाहिए। उदाहरण के लिए विख्यात भौतिकीवेत्ता वार्नर हाइजेनबर्ग लिखते हैं, 'यह आधुनिक विज्ञान हमारे समय में विश्व के अन्य भागों में भी पहुँच गया है, जहाँ की सांस्कृतिक परंपराएं यूरोपीय सभ्यता से पूरी तरह भिन्न हैं। प्राकृतिक और तकनीकी विज्ञान में इन गतिविधियों का प्रभाव यूरोप की तुलना में कहीं अधिक हुआ, क्योंकि यूरोप के जीवन स्तर में दो-तीन शताब्दियों में होने वाले परिवर्तन वहाँ दो-तीन दशकों में हो जाते हैं। हमें यह आशा करनी चाहिए कि कई स्थानों में यह नई गतिविधि पुरानी संस्कृति के अवसान और निर्मम तथा बर्बर दृष्टिकोण के रूप में देखी जाएगी, जो कि संवेदनशीलता के संतुलन को समाप्त कर देगी जिसपर मनुष्य की प्रसन्नता निर्भर है। इन

परिणामों की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।'[17] हाइजेनबर्ग की इस बात से यह स्पष्ट है कि यूरोपीय पृष्ठभूमि में विज्ञान को जिस प्रकार देखा जा रहा है, आवश्यक नहीं है कि विश्व के अन्य हिस्सों में भी उसे उसी प्रकार देखा जाए। उनका स्पष्ट कहना है कि देशविशेष की संस्कृति से इसका प्रभावित होना सहज ही है। हाइजेनबर्ग इसके बाद लिखते हैं, 'उदाहरण के लिए पिछले युद्ध के बाद सैद्धांतिक भौतिकी में उल्लेखनीय वैज्ञानिक योगदान जापान से हुआ, जोकि सुदूर पूरब की परंपराओं में निहित दार्शनिक सिद्धांतों और क्वांटम सिद्धांत के दार्शनिक तत्व में कुछ संबंध होने का एक संकेत है। अस्तित्व के क्वांटम सिद्धांत को स्वीकार करना उनके लिए अधिक सरल था, जिन्हें इस शताब्दी के पहले दशक में यूरोप में प्रचलित तथा आज भी व्याप्त स्पष्ट भौतिकवादी चिंतन से नहीं गुजरना पड़ा।' हम जानते हैं कि यूरोप में व्याप्त भौतिकतावादी चिंतन मूलतः ईसाई चिंतन है और जापान के बौद्ध दर्शन का मूल वस्तुतः भारत ही है। इससे स्पष्ट है कि भारत में विज्ञान शिक्षण यूरोपीय विज्ञान शिक्षण से भिन्न होना चाहिए था।

विज्ञान की इन दोनों परंपराओं - भारतीय तथा औपनिवेशिक अथवा यूरोपीय - में अंतर जोकि आज विरोध की सीमा तक चला गया है, इसके मूल स्थापनाओं और तरीकों में ही है। भारत में विज्ञान कभी भी एक अलग विषय नहीं रहा है। यह समाज-जीवन के विभिन्न आयामों में घुला-मिला रहा है। 13वीं शताब्दी तक चूँकि पूरे विश्व की शिक्षा का केंद्र भारत ही हुआ करता था और चूँकि भारतीय तकनीकों का विश्व के आर्थिक जगत में आधिपत्य था, इसलिए पूरे विश्व में ही विज्ञान भारतीय तरीके के अनुसार एक अलग विषय के रूप में स्थापित न होकर जीवन के विभिन्न आयामों के साथ घुला-मिला हुआ था। यूरोप के औपनिवेशिक साम्राज्य के विकास के काल में विज्ञान को एक अलग विषय के रूप में मान्यता देने का काम प्रारंभ हुआ। वास्तव में विज्ञानी यानी साइंटिस्ट शब्द भी 19वीं शताब्दी तक लोकप्रचलित नहीं था। जहीर बाबर लिखते हैं, 'विज्ञान और तकनीकी की आधुनिक समझ के अनुसार (भारत के) प्राचीन इतिहास का मूल्यांकन करते समय सावधानी रखनी चाहिए। प्राचीन काल में विज्ञान विश्लेषणात्मक रूप से कोई अलग विषय नहीं हुआ करता था, बल्कि यह समाज की अन्य संस्थाओं के साथ घुला-मिला था। वास्तव में विज्ञानी शब्द भी 19वीं शताब्दी के मध्य में अंग्रेजी प्रकृतिवादी विलियम व्हेवेल ने उछाला था और प्राचीन काल में विश्व के किसी भी हिस्से में विज्ञान को एक अलग सांस्थानिक विषय और विज्ञानियों को एक अलग विशेषज्ञ के रूप में स्वीकार करना कठिन था।'[18] कुल मिलाकर विज्ञान की भारतीय परंपरा का अध्ययन करते समय और भारत में विज्ञान शिक्षण पर विचार करते समय आधुनिक यूरोपीय विज्ञान की इन सीमाओं का ध्यान रखना अत्यंत आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति और परंपरा की उपेक्षा और विरोध में खड़े विज्ञान के शिक्षण के लिए फेथ यानी आस्था, फैशन यानी आकर्षक चलन और फैन्टेसी यानी काल्पनिक जगत की तिकड़ी का निर्माण करना आवश्यक हो जाता है। आधुनिक यूरोपीय विज्ञान के हिमायती इन तीनों के विरोधी माने जाते हैं। वे आस्था पर संशय को, आकर्षक चलन पर लक्ष्य को और काल्पनिकता पर वास्तविकता को वरीयता देने की बात करते हैं। प्रसिद्ध विज्ञानी रोजर पेनरोज लिखते हैं, 'आदर्श स्थिति में यह बहुत ही न्यायोचित जान पड़ता है कि ब्रह्मांड के मौलिक सिद्धांतों का अनुसंधान करने के लिए गंभीरता से समर्पित लोगों में फैशन, फेथ और फैंटेसी जैसे प्रभाव पूरी तरह से अनुपस्थित रहें। न तो प्रकृति को मनुष्य के तुरंत-तुरंत बदलने वाले फैशन में कोई गंभीर रूचि है और न ही विज्ञान को एक आस्था के रूप में पढ़ाया जा सकता है, विशेषकर तब जबकि उसके सिद्धांतों का निरंतर परीक्षण किया जाता हो, और उन्हें एक सुनिश्चित विरोधी

मत मिलने पर खारिज कर दिया जाता हो।'[19] परंतु सच्चाई तो यह है कि विज्ञान के यूरोपीय सिद्धांत स्वयं ही इसी तिकड़ी पर निर्भर हैं। हालांकि वे स्वयं इसे अलग ढंग से देखते हैं, परंतु वे इस बात से इनकार नहीं कर पाते। रोजर पेनरोज आगे लिखते हैं, 'बहरहाल, इन तीनों गुणों के प्रति पूरी तरह नकारात्मक होने की कोई इच्छा नहीं है। यह तर्क दिया जा सकता है कि इन तीनों शब्दों में कुछ सकारात्मक भाव भी हो सकते हैं। एक फैशनेबल सिद्धांत केवल समाजशास्त्रीय कारणों से चलन में नहीं रह सकता। अत्यधिक फैशन में रहने वाले किसी विषय में ढेर सारे शोधकर्ताओं का रहने का कारण उस विषय के सकारात्मक गुण भी हो सकते हैं। यह असंभव प्रतीत होता है कि ये शोधकर्ता केवल भीड़ का हिस्सा बनने के लिए इतने उत्साहित हों कि वे एक अत्यंत कठिन अध्ययन-क्षेत्र को चुन लें। जहाँ तक विज्ञान के कुछेक सिद्धांतों में परम विश्वास रखने की बात है, जोकि शोधकर्ताओं द्वारा अक्सर उन मामलों में भी व्यक्त की ही जाती है, जहाँ इन सिद्धांतों के एकदम विपरित परिस्थितियां प्राप्त होती हैं और एकदम विरोधी अवलोकन प्रारंभ में प्राप्त होते हैं। अतः यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारक है। अतीत के अनेक जबरदस्त भौतिक सिद्धांत परिस्थिति विशेष में आज भी विश्वसनीय माने जाते हैं, जबकि उन सिद्धांतों से बेहतर सिद्धांत सामने आ चुके हैं, जिनकी शुद्धता और व्यवहार्यता अधिक व्यापक है।'

'बहरहाल, फैंटेसी का मामला बिल्कुल अलग है। निश्चित रूप से यह विज्ञान की खोज की भावना के एकदम विपरीत भाव है। लेकिन फिर भी हम देखेंगे कि हमारे वास्तविक ब्रह्मांड की प्रकृति कुछ महत्त्वपूर्ण आयाम इतने असाधारण रूप से विचित्र हैं, कि यदि हम कल्पना और स्वप्न की असामान्य उड़ान न लें तो हम उन असाधारण काल्पनिक प्रतीत होने वाले निष्कर्षों तक पहुँच ही नहीं सकते, जिनमें काफी सत्य समाया हुआ है।'[20]

रोजर पेनरोज ने लगभग 500 पृष्ठों की यह पुस्तक विज्ञान जगत में व्याप्त फैशन, फेथ और फैंटेसी की इसी तिकड़ी को न्यायोचित ठहराने और उसके लाभ गिनाने पर लिखा है। यूरोपीय विज्ञानियों की कल्पना की इन ऊँची उड़ानों के बाद भी भारत में इन्हें एक अंधविश्वास की तरह पढ़ाया जाता है। भारत की विज्ञान शिक्षा विज्ञान के यूरोपीय ऊहापोहों को नहीं, बल्कि यूरोपीय निष्कर्षों को ही पढ़ाती है। वे निष्कर्ष जो कि एक फैंटेसी मात्र हो सकते हैं और जिन्हें बेहतर सिद्धांत मिलने पर खारिज कर दिया जा सकता है। ऐसा हम विज्ञान के क्षेत्र में पिछले दो सौ वर्षों की यूरोपीय यात्रा में बखूबी देख सकते हैं। इस शिक्षा में भारतीय विज्ञानियों को निष्कर्षों को शामिल नहीं किया जाता, क्योंकि कथित रूप से वे यूरोपीय सिद्धांतों से काटे जा चुके हैं, जबकि रोजर पेनरोज स्वयं लिख रहे हैं कि परिस्थिति विशेष में यूरोपीय विज्ञानी अपने खारिज किए गए पुराने सिद्धांतों पर भी आस्था रखते हैं। आखिर उन खारिज किए गए यूरोपीय सिद्धांतों को भी भारत के विज्ञान शिक्षण में पढ़ाया तो जाता ही है। इस समस्त यूरोपीय फेथ, फैशन और फैंटेसी में विज्ञान के भारतीय विद्यार्थी स्वयं को सहज अनुभव नहीं कर पाते। इसलिए उन्हें यह सब कुछ एक अंधविश्वास की भांति पढ़ना होता है, जिसका सीधा परिणाम यह होता है कि वे आगे चल कर विज्ञान के अंधविश्वासी बनते हैं, न कि विज्ञानी। यही कारण है कि चार से आठ वर्ष तक विज्ञान पढ़ने के बाद भी भारत के आम मानस में विज्ञान-दृष्टि का विकास नहीं हो पाता है, नहीं हुआ है।

भारत में विज्ञान शिक्षण के संदर्भ में देखें तो उपरोक्त तीनों शब्दों का कुछ अलग अर्थ है। यहाँ फेथ अथवा आस्था का अर्थ है यूरोपीय विज्ञानियों पर अंधविश्वास। फैशन अथवा आकर्षक चलन का अर्थ है वे विषय जिनसे उसे अच्छी नौकरी प्राप्त हो सके और वह उच्च साधनसंपन्न समाज का हिस्सा बन सके। फैंटेसी का अर्थ है समृद्ध और सुखी जीवन के सपने। इससे

अधिक भारत में विज्ञान के सामान्य विद्यार्थियों के सामने और कुछ नहीं रहता। यह विज्ञान शिक्षण उनमें प्रकृति के रहस्यों के प्रति न तो उत्सुकता जगा पाता है और न ही उन्हें इन रहस्यों को जानने का लाभ बता पाता है। विज्ञान की स्नातक तक की शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी का उद्देश्य तो होता है केवल एक अच्छी नौकरी पाना, परंतु उसे शिक्षा दी जा रही होती है, प्रकृति के गूढ़तम रहस्यों की जिनमें उसकी कोई रूचि नहीं होती। इसलिए उसे वह केवल एक अंधविश्वास और फैशन की तरह रटता जाता है। इस कारण जापान तो सैद्धांतिक भौतिकी में महत्त्वपूर्ण योगदान कर पाता है, क्योंकि वह यूरोपीय विज्ञान के साथ-साथ अपने बौद्ध परंपरा को भी पढ़ता चलता है, परंतु भारत के विज्ञानी उसी बौद्ध परंपरा के मूल स्रोत और साथ ही उससे कहीं आगे वैदिक स्रोतों को नहीं पढ़ने-जानने के कारण यूरोपीय सिद्धांतों के अंधानुकरण में फंसे रहते हैं। भारत के वैदिक विज्ञान से सहमति जताने वाले यूरोपीय विज्ञानियों की एक लंबी श्रृंखला है, जिसमें फ्रिट्जाफ काप्रा से लेकर श्रौडिन्जर तक शामिल हैं। ये सभी भारत की वेदांत परंपरा को यूरोपीय सिद्धांतों से श्रेष्ठ मानते हैं परंतु हम श्रौडिन्जर के वेब समीकरणों से अधिक कुछ पढ़ते-पढ़ाते ही नहीं हैं।

इन कठिनाइयों का समाधान क्या है? समाधान है भारत के विज्ञानियों और उनके सिद्धांतों को पाठ्यक्रम में शामिल करना। इसके लिए आवश्यक है कि पहले भारत की अपनी विज्ञान परंपरा को स्वीकार किया जाए। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भारत की विज्ञान परंपरा संस्कृत भाषा में मिलती है। समस्या यह है कि इस अंग्रेजी शिक्षा के प्रमुख योजनाकार मैकॉले का मानना था कि संस्कृत भाषा में वैज्ञानिक साहित्य है ही नहीं। वास्तव में यह कोई निर्दोष कथन नहीं था। यह एक रणनीतिक कथन था। यह अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ाने मात्र के लिए दिया गया था। वर्ष 1817 में ही लंदन से संस्कृत ग्रंथों में विद्यमान गणित के ग्रंथों का अंग्रेजी अनुवाद कोलब्रुक कर चुका था। कोई कारण नहीं है कि मैकॉले को इसकी जानकारी नहीं रही हो। वर्ष 1844 में काउंट एम बोत्र्जोना की थियोगोनी ऑफ हिंन्दूज प्रकाशित हो चुकी थी, जिसमें भारतीय खगोलविज्ञान का विस्तृत विवरण था। दुर्भाग्यवश संस्कृत के प्रति मैकॉले का जो दृष्टिकोण था, वही आज के भारतीय विज्ञान जगत में व्याप्त है। इस दृष्टिकोण को समाप्त किए जाने की आवश्यकता है। कुछ वर्ष पहले जब आईआईटी में संस्कृत को पढ़ाए जाने की पहल की गई थी, तो उसका काफी विरोध हुआ था। वह विरोध उसी मैकॉले मानसिकता का ही प्रतीक था। ऐसा नहीं है कि संस्कृत साहित्य में निहित विज्ञान पर कोई काम हुआ ही न हो। स्वाधीनता से पहले ही रसायनशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान प्रो. प्रफुल्लचंद्र राय ने हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री लिख दी थी। उन्होंने इसके व्यावहारिक उपयोग को दर्शाने के लिए बंगाल केमिकल्स की स्थापना भी की थी। स्वाधीनता के बाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय में रसायनशास्त्र के प्राध्यापक रहे डॉ. सत्यप्रकाश ने इस पर दो-तीन पुस्तकें लिखीं। और भी अनेक विद्वानों ने भारतीय विज्ञान पर पुस्तकें लिखी हैं, परंतु वे सभी भारत के विज्ञान तथा अकादमिक जगत की उपेक्षा की शिकार हैं।

इस दृष्टिकोण को बदलने के अलावा भाषा की दूसरी समस्या को भी दूर करना होगा। विज्ञान को अंग्रेजी में ही पढ़ाया जा सकता है, यह मानसिकता भी देश में विज्ञान शिक्षा के प्रसार में बड़ी बाधा है। विज्ञान का अध्ययन स्थानीय भाषा में किया जा सकता है। देश की सभी भाषाओं में ऐसे ग्रंथों की कोई कमी नहीं है। संस्कृत इनके लिए मुख्य भाषा है और इसका उत्तर से लेकर दक्षिण तक की लगभग सभी भाषाओं से अद्भुत सामंजस्य है। इसलिए संस्कृत को विज्ञान शिक्षण की प्रमुख भाषा बनाने से विज्ञान का प्रसार सुगमता से हो सकेगा। इससे शेष भाषाओं में विज्ञान का स्थानांतरण सरल हो जाएगा। भाषा के बाद तीसरी समस्या शब्दावली

की होगी। लैटिन भाषा के नामों को वैज्ञानिक नाम कहना यूरोप की लाचारी हो सकती है, भारत में ऐसी कोई लाचारी पालना, अतार्किक मूर्खता ही कही जाएगी। इसके अतिरिक्त भौतिकी, रसायन, खगोल, जीव विज्ञान आदि सभी विषयों में भारतीय शब्दावलियाँ आज की यूरोपीय शब्दावलियों से भिन्न और अधिक उपयोगी हैं। उदाहरण के लिए शरीररचना विज्ञान में जहाँ यूरोपीय विज्ञान केवल कोशिकाओं, उत्तकों, जीन, डीएनए आदि तक सीमित है, वहीं भारतीय आयुर्विज्ञान वात, पित्त, कफ, सात धातुओं की सूक्ष्म अवधारणा से लेकर आत्मा के सूक्ष्मतम अस्तित्व तक का विचार करता है। परिणामतः भारतीय आयुर्विज्ञान अधिक सफल होता है।

भारतीय विज्ञान के प्रसार से सबसे बड़ा लाभ देश की बेरोजगारी को दूर करने में मिलेगा। भारतीय विज्ञान अधिक सरल, उपयोगी और व्यावहारिक है। साथ ही यह लघु और विकेंद्रित उत्पादन को बढ़ाता है। इसमें केवल मनुष्य के सहयोगार्थ और छोटे पैमाने पर ही मशीनीकरण आवश्यक होता है। स्वाभाविक ही है कि यह अधिक लोगों को रोजगार देता है। आज विज्ञान की किसी भी धारा के भारतीय स्नातक को यदि कहीं नौकरी प्राप्त न हो, तो वह अपने जीवन में उस विज्ञान शिक्षा का कोई उपयोग नहीं कर सकता। विज्ञान के पीएचडीधारक भी पढ़े गए विज्ञान का व्यावहारिक उपयोग करने में सक्षम नहीं होते। इसका बड़ा कारण उन विद्यार्थियों की अक्षमता नहीं, बल्कि विषयों की ही अक्षमता है। ये विषय वस्तुतः प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों से संबंधित हैं, व्यावहारिक जीवन से नहीं। यूरोप की एक समस्या यह थी कि वहाँ विज्ञान का अकादमिक पाठ्यक्रम उद्योग जगत की आवश्यकताओं से कटा हुआ था। उदाहरण के लिए हम रसायनशास्त्र का प्रसंग देखते हैं। हमें जानना तथा स्मरण रखना चाहिए कि आधुनिक यूरोपीय विज्ञान की लगभग सभी शाखाओं का विकास युद्ध के लिए किया गया था। युद्ध में सैन्य क्षमता की वृद्धि के लिए उनकी जो आवश्यकताएं थीं, उनको पूरा करने के लिए ही यूरोपीय विज्ञान के अधिकांश अनुसंधान किए गए हैं। रसायनशास्त्र के विकास में प्रथम यूरोपीय विश्वयुद्ध के योगदान का उल्लेख करते हुए मौरिस पीटर लिखते हैं, 'इसी समय में युद्ध ने मजबूत सरकारी रासायनिक उद्योगों की आवश्यकताओं के बारे में गंभीर जागरूकता पैदा की, क्योंकि यह लगभग स्पष्ट हो चुका था कि उद्योग की इस शाखा शासकीय तथा सैन्य शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा थी। इसलिए युद्ध की समाप्ति के बाद के दो दशकों में गंभीर अंतर्राष्ट्रीय तनावों, आर्थिक अस्थिरता और कच्चे माल की उपलब्धता की समस्या के मद्देनजर राजकीय हस्तक्षेप एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा हो गया था। युद्ध के दौरान और बाद में लगभग सभी यूरोपीय देशों द्वारा नए रासायनिक उद्योगों को संरक्षण दिया जाने लगा था।'[21] समस्या यह थी कि रसायनशास्त्र का अकादमिक पाठ्यक्रम उद्योग जगत के अनुकूल नहीं था और इसलिए वहाँ इंडस्ट्रियल केमिस्ट्री नामक विषय का सूत्रपात हुआ और रासायनिक उद्योग जगत की कंपनियों ने अपने यहाँ शोध एवं विश्लेषण का विभाग प्रारंभ कर दिया। मौरिस बताते हैं, '1914 के पहले की तुलना में दोनों युद्धों (पहले और दूसरे विश्वयुद्ध) के बीच के समय में रासायनिक उत्पादों के बाजार का विकास काफी धीमा था। इसलिए कंपनियों ने प्रतिस्पर्धा को बढ़ाने के लिए अनेक रणनीतियाँ अपनाईं। इन रणनीतियों में से ही एक प्रमुख था शोध तथा विश्लेषण के क्षेत्र में कदम रखना। हालांकि अनेक राज्यों में अकादमिक विज्ञान और रासायनिक उद्योगों के बीच के अंतर को पाटना अभी शेष था।'[22] इस प्रकार हम पाते हैं कि विविध कारणों से यूरोप में अकादमिक विज्ञान व्यावहारिक प्रयोगों से दूर था। इसका एक और बड़ा कारण यूरोप में विज्ञान विषय का नवजात होना भी है।

दूसरी ओर, एक तो भारतीय विज्ञान की परंपरा अति प्राचीन है, इतनी प्राचीन कि उस काल

को आधुनिक इतिहासकार उसे प्रिहिस्ट्री कह कर पुकारते हैं। दूसरी बात, कि वह अत्यंत व्यावहारिक और प्रायोगिक है।

भारतीय विज्ञान में प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को भी इस प्रकार बताया जाता है कि उनका व्यावहारिक प्रयोग करना भी सरल हो जाता है। इसी प्रकार भारतीय विज्ञान पर्यावरणानुकूल भी है। भारतीय रसायन शास्त्र में अधिकांश प्रयोग जैविक पदार्थों से कर लिए जाते हैं। उदाहरण के लिए धातुकर्म में लोहे का प्रसंस्करण कर जंगरोधी इस्पात बनाने में त्रिफला और केले के तनों के रस का प्रयोग होता है। भट्ठियों में पत्थर कोयले की बजाय लकड़ी कोयले का प्रयोग किया जाता है। साथ ही विकेंद्रित और सीमित मात्रा में उत्पादन भी पर्यावरण की रक्षा में सहयोगी होता है। यदि हम आयुर्वेदिक रसशास्त्र को देखेंगे तो उसमें ऐसे ढेरों प्रयोग मिलेंगे जो उद्योग जगत की आधारशिला बन सकते हैं। भारतीय परंपरा के अनेक विद्वानों ने इस बात को रेखांकित किया है कि भारत में विज्ञान इस स्तर तक जन-जन में प्रवेश कर गया था कि वैज्ञानिक सिद्धांतों को न जानने वाले लोग भी तकनीकी रूप से काफी दक्ष हुआ करते थे। विभिन्न प्रकार के खाद्य नमक बनाना, धातुओं का शुद्धिकरण करना, पारा जैसे धातु का भस्म तैयार करना, शीशा बनाना, जंगरोधक इस्पात बनाना जैसे अनेक काम जातीय परंपरा से मिले ज्ञान के आधार पर सरलता से किया जाता था और इन सभी का शास्त्रीय आधार भी उपलब्ध था जो कि 12वीं शताब्दी में नालंदा विश्वविद्यालय और उस जैसे अनेक विद्यालयों को इस्लामी आक्रांताओं द्वारा नष्ट किए जाने के बाद अकादमिक पठन-पाठन से छूटने लगा था।

तीसरी और अंतिम बात यह है कि भारतीय विज्ञान का विकास युद्धों के लिए नहीं, वरन् मनुष्य के जीवन को सुखी बनाने के लिए हुआ। यह एक मौलिक अंतर है, जो भारतीय विज्ञान को अधिक लोकोपकारक बनाता है। उदाहरण के लिए भारतीय विज्ञान मनुष्य के उपयोग के लिए आवश्यक धातुओं का ही प्रसंस्करण करता है। इसके लिए लोहा, जिंक, टिन, पारा, सोना, चाँदी, तांबा आदि धातुओं का प्रयोग काफी हो जाता है। परंतु यूरोपीय विज्ञान उन धातुओं तथा पदार्थों का प्रसंस्करण करने का प्रयास करता है, जिनसे विनाशक शस्त्र बनाए जा सकते हैं। इसलिए वे रेडियोसक्रिय पदार्थों पर भी अनुसंधान करते हैं। भले ही उन अनुसंधानों को मानव के हित में बताया जाता हो, परंतु अभी तक उनसे लाभ की तुलना में हानि ही अधिक होती दिखी है। इसलिए भी भारत में यूरोपीय विज्ञान को प्रारंभ से पढ़ाया जाना अनुपयोगी और निरर्थक है। विज्ञान के स्नातकों को भले ही यूरोपीय विज्ञान के प्रयोगों के बारे में पढ़ाया जा सकता है। परंतु पहली कक्षा से ही इसे पढ़ाना उचित नहीं कहा जा सकता। ऐसे में कहा जा सकता है कि भारत की आज के विज्ञान शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन किए जाने की आवश्यकता है। आज आवश्यकता है कि भारत की उस विज्ञान शिक्षण की प्राचीन परंपरा को फिर से स्थापित किया जाए। संस्कृत में उपलब्ध प्राचीन विज्ञान साहित्य के अतिरिक्त प्रो. प्रफुल्ल चंद रॉय[23], प्रो. सत्य प्रकाश[24], डॉ. ब्रजेंद्रनाथ शील[25] जैसे लोगों ने जो पुस्तकें लिखी हैं, वे इसमें काफी काम आ सकती हैं। इनके अतिरिक्त भी और ढेर सारी पुस्तकें लिखी गई हैं जो भारतीय विज्ञान और गणित को पढ़ाने में सहायक हो सकती हैं। यदि हम इनका अध्यापन प्रारंभ करेंगे तो ऐसी और भी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं।

1. https://www.thespruce.com/scientific-names-of-plants-listed-alphabetically-4120570
2. https://timesofindia.indiatimes.com/city/delhi/less-than-a-third-of-government-schools-in-delhi-have-science-stream/articleshow/62013701.cms
3. http://oldsite.english.ucsb.edu/faculty/rraley/research/english/macaulay.html

4. लाइफ एंड लेटर्स ऑफ लार्ड मैकॉले, पृष्ठ 399
5. द साइंस ऑफ अंपायर, साइंटिफिक नॉलेज, सिविलाइजेशन एंड कोलोनियल रूल इन इंडिया, पृष्ठ 16
6. द साइंस ऑफ अंपायर, साइंटिफिक नॉलेज, सिविलाइजेशन एंड कोलोनियल रूल इन इंडिया, पृष्ठ 08
7. द साइंस ऑफ अंपायर, साइंटिफिक नॉलेज, सिविलाइजेशन एंड कोलोनियल रूल इन इंडिया, पृष्ठ 08
8. वही, पृष्ठ 403
9. एन्नोटेटेड बिबिलियोग्राफी फॉर तमिल स्टडीज कन्डक्टेड बाय जर्मन्स, पृष्ठ 5
10. भारत में यूरोपीय यात्री, उद्देश्य, वर्णन और यथार्थ, पृष्ठ 160
11. द यूनिवर्सिटिज ऑफ यूरोप इन द मिडिल एजेज, खंड दो, भाग दो, पृष्ठ 328
12. http://www.vlib.us/medieval/lectures/universities.html
13. भारत में यूरोपीय यात्री, पृष्ठ 164
14. वही, पृष्ठ 164
15. विज्ञान भारती, सितम्बर, 1992 पृष्ठ 10
16. व्यक्तिगत वार्ताधारित
17. फिजिक्स एंड फिलॉसफी, पृष्ठ 173
18. द साइंस ऑफ अंपायर, साइंटिफिक नॉलेज, सिविलाइजेशन एंड कोलोनियल रूल इन इंडिया, पृष्ठ 19
19. फैशन, फेथ एंड फैंटेसी इन द न्यू फिजिक्स जफ यूनिवर्स, भूमिका, पृष्ठ 11
20. वही, पृष्ठ 12
21. डिटरमिनांट्स इन द इवोल्युशन ऑफ द यूरोपीयन केमिकल इंडस्ट्री, भूमिका, पृष्ठ 11
22. वही पृष्ठ 12
23. हिस्ट्री ऑफ हिंदू केमिस्ट्री
24. प्राचीन भारत में रसायन
25. पॉजिटिव साइंसेज ऑफ हिंदूज

MHM

प्राचीन भारत में शिक्षण की विधा और नियमन

डॉ. विवेक भटनागर*

* लेखक इतिहासविद्, पुरातत्त्वेत्ता तथा वरिष्ठ पत्रकार हैं।

भारत में शिक्षण और शिक्षा को आलौकिक स्परूप प्रदान किया गया है, शिक्षा का व्यापार अनुमत नहीं था। इसलिए शिक्षा सामाजिक और राजकीय व्यवस्था के माध्यम से प्रदान की जाती थी। इसका मूल आधार राज्य द्वारा दिया जाने वाला अनुदान था। इसके अलावा बटुक और द्विज के लिए भिक्षाटन करना उसकी शिक्षा का अनिवार्य अंग था। इसके माध्यम से वह स्वयं और अपने गुरुकुल के भोजन का प्रबंध करता था। इसकी परम्परा आज भी हमें भिक्षुकों को भोजन देने में दिखाई देती है। शिक्षा चूंकि व्यापार नहीं होकर जीवन का व्यवहार थी, इसलिए समाज में आचार्य हो या उपाध्याय सभी का सम्मान सर्वोच्च था। ब्रह्मदण्ड की स्थिति राजदण्ड से उपर थी। यह शैक्षणिक पद्धति अंग्रेजों के शासन में आने के भी 100 वर्षों तक भारत में लागू रही और कई अंग्रेज अधिकारियों ने अपने लेखों में माना की भारत में अक्षर ज्ञान ही नहीं शिक्षा का प्रतिशत भी 18वीं-19वीं सदी में यूरोप से कई ऊंचा था।

ब्रिटिश संग्रहालय से 1930 के दशक में मिली एक रिपोर्ट और लंदन अभिलेखागार से मिले कई गजट के आधार पर महात्मा गांधी के सहायक रहे धर्मपाल ने एक पुस्तक 'द ब्यूटीफुल ट्री' लिखी। इस पुस्तक में वे लिखते हैं कि 1820 अंग्रेज हमारी शिक्षा प्रणाली का समर्थन करते रहे। 1822 में मद्रास और बंगाल प्रेसीडेण्सी में अंग्रेजों ने अपने जिला कलेक्टर के माध्यम से एक सर्वेक्षण करवाया, जिसमें उन्होंने ने बताया कि बंगाल प्रेसीडेंसी के सभी एक लाख गांवों में पाठशालाएं हैं। वहीं, मद्रास प्रेसीडेंसी में सभी गांवों में पाठशाला थी। इसके बाद बोम्बे प्रेसीडेंसी में हुए सर्वेक्षण में सामने आया कि अगर किसी गांव की आबादी 100 लोगों की भी है तो वहां पाठशाला है। यहां पर सभी जातियों के शिक्षक और छात्र पढ़ाते और पढ़ते थे। इनमें ब्राह्मणों की संख्या अधिकतम 48 प्रतिशत थी, शेष अन्य जाति के शिक्षक होते थे। मातृभाषा में प्रथम चार पांच वर्ष तक अर्थात् प्राथमिक शिक्षण के बाद संस्कृत और वेदों की शिक्षा का नियम था। तब अंग्रेजों ने इस व्यवस्था की मुक्तकंठ प्रशंसा की और कहा कि यह सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा है जो राष्ट्र को लेने के लिए महत्वपूर्ण है आगे, केवल कुछ उच्च शिक्षा प्राप्त की जाती है।

अंग्रेजों ने इसके अलावा शिक्षकों और ब्राह्मणों के शिक्षा के प्रति समर्पण और इसमें समाज के सहयोग की प्रशंसा की है। उन्होंने अपने गजट में लिखा कि छात्र के स्कूल से बाहर आने तक वह प्रतिस्पर्धी दक्षता हासिल कर लेता है और उसमें अपनी संस्कृति को समझने की अंतर्दृष्टि भी विकसित हो जाती है। मद्रास में तब काम कर रही एक ईसाई मिशनरी 'वन मिबेल' ने भारतीय शिक्षा प्रणाली पर इंग्लैंड में एक पत्रक प्रस्तुत किया और उसे आधार मान कर वहां पर आम जनता के लिए शिक्षण व्यवस्था शुरू की गई। इससे पहले तक इंग्लैंड में सिर्फ राजपरिवार से सम्बंधित और धनाढ्य परिवार के बच्चों को ही शिक्षा दी जाती थी। इसलिए, प्रथम तो हम दावा कर सकते हैं कि अंग्रेजों ने भी भारतीय शिक्षा प्रणाली को अपनाकर उसे विकृत कर दिया और सामाजिक सरोकार की इस प्रणाली को व्यावसायिक रूप दे दिया।

भारत के प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा का स्तर अत्यंत उच्च था। हमारी शैक्षणिक प्रणाली अत्यंत सक्षम और स्वावलम्बी थी। ऐसे में भारत में शिक्षण व्यवस्था में बदलाव और उसे अंग्रेजों का व्यावसायिक स्वरूप देना सहज नहीं था। इसके अलावा अंग्रेजों के लिए ईसाइयत का प्रचार और अपने लिए सस्ते और गुलाम प्रवृत्ति वाले कामगारों की पौध तैयार करने के लिए भी अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता थी।

भारत में शिक्षा की आध्यात्मिकता

भारत की प्राचीन शिक्षा वैज्ञानिक वाद और आध्यात्मिमकता पर आधारित थी। ज्ञान-विज्ञान, मुक्ति एवं आत्मबोध से मिलकर पूरी प्रणाली शिक्षा कहलाती थी। यह व्यक्ति के लिये नहीं बल्कि सर्वाभौमिक विकास के लिए दी जाती थी। भारत की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक परम्परा विश्व इतिहास में प्राचीनतम है। डॉ. अल्टेकर के मतानुसार वैदिक युग से लेकर अब तक भारतवासियों के लिए शिक्षा का अभिप्राय यह रहा है कि शिक्षा प्रकाश का स्रोत है। जीवन के विभिन्न कार्यों में यह हमारा मार्ग आलोकित करती है। इसके लिए बृहदारण्यक उपनिषद् (1/3/28) में वर्णन मिलता हैः-

ॐ असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय॥ ॐ शान्ति शान्ति शान्तिः॥ इसे पवमान मंत्र कहा गया है। इसे सोमयज्ञ के समय यजमान द्वारा स्तुति में गाया जाता है। इसका अर्थ है, ***मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो। मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो। मुझे मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो॥***

ये सभी विचार सिर्फ शिक्षा से ही पाए जा सकते हैं। इस प्रकार अध्यात्म में भी शिक्षण को ही प्रमुखता दी गई है। इस कारण भारत विश्वगुरु कहलाता था। विभिन्न विद्वानों ने शिक्षा को प्रकाशस्रोत, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्ज्योति, ज्ञानचक्षु और तीसरा नेत्र आदि उपमाओं से विभूषित किया है। उस युग की यह मान्यता थी कि जिस प्रकार अन्धकार को दूर करने का साधन प्रकाश है, उसी परकार व्यक्ति के सब संशयों और भ्रमों को दूर करने का साधन शिक्षा है। प्राचीन काल में इस बात पर बल दिया गया कि शिक्षा व्यक्ति को जीवन का यथार्थ दर्शन कराती है। तथा इस योग्य बनाती है कि वह अन्त में मोक्ष को प्राप्त कर सके जो कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य है। प्राचीन भारत की शिक्षा का प्रारंभिक रूप हम ऋग्वेद में देखते हैं। ऋग्वेद युग की शिक्षा का उद्देश्य था तत्व साक्षात्कार। ब्रह्मचर्य, तप और योगाभ्यास से तत्व का साक्षात्कार करनेवाले ऋषि, विप्र, वैघस, कवि, मुनि, मनीषी के नामों से प्रसिद्ध थे। साक्षात्कृत तत्वों का मंत्रों के आकार में संग्रह होता गया वैदिक संहिताओं में, जिनका स्वाध्याय, सांगोपांग अध्ययन, श्रवण, मनन औरनिदिध्यासन वैदिक शिक्षा रही।

भारतीय सभ्यता की रोचकता यहां की शिक्षण पद्धति में है। इसलिए इस सभ्यता के समुचित ज्ञान के लिए इसकी शिक्षा पद्धति का अध्ययन करना आवश्यक हैं। वह शिक्षा पद्धति जिसने इस सभ्यता को चार हजार वर्षों से भी अधिक समय तक सुरक्षित रखा, उसका प्रचार-प्रसार किया और उसमें तर्क, दर्शन और अध्यात्म के माध्यम से उसमें संशोधन किया। प्राचीन भारतीयों ने शिक्षा को अत्यधिक महत्व प्रदान किया। भौतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों के विधिवत् निर्वाह के लिए शिक्षा की महती आवश्यकता को सदा स्वीकार किया गया। वैदिक युग से ही इसे प्रकाश का स्रोत माना गया, जो मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को आलोकित करते हुए उसे सही दिशा-निर्देश देता है। सुभाषित रत्नसंदोह में कहा गया है कि 'ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है जो उसे समस्त तत्वों के मूल को जानने में सहायता करता है तथा सही कार्यों को करने की विधि बताता है।'

महाभारत में वर्णित है कि ***'नास्ति विद्यासमं चक्षुनास्ति सत्यसमं तपः।'*** (महाभारत शांतिपर्व 12/339/6) अर्थात् 'विद्या के समान नेत्र तथा सत्य के समान तप कोई दूसरा नहीं है।' वहीं सुभाषितरत्न भण्डार में कहा गया है कि जीवन की समस्त कठिनाइयों तथा बाधाओं को दूर करने वाले ज्ञान रूपी नेत्र जिसे प्राप्त नहीं है वह वस्तुतः अन्धा है। इसी प्रकार विद्या का मुक्ति का साधन बताया गया हैः-

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यऽन्या शिल्पनैपुणम्॥ *विष्णुपुराण 01/21)*

इसमें 'सा विद्या या विमुक्तये' का अर्थ है 'मनुष्य को मुक्ति दिलाये वही विद्या है'। भारतीयों का यह दृढ़ विश्वास है कि शिक्षा द्वारा प्राप्त एवं विकसित की गई बुद्धि ही मनुष्य की वास्तविक शक्ति होती है।

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः॥ *(हितोपदेश, कथा 7)*

विद्या के विविध उपयोग बताये गये हैं। यह 'माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान हितकारी कार्यों में नियोजित करती है, पत्नी के समान दुखों को दूर कर आनन्द पहुँचाती है, यश तथा वैभव का विस्तार करती है । यह कल्पलता के समान गुणकारी है।'

विद्यां ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वात् धनमाप्नोति धनात् धर्मं ततः सुखम् ॥ *(सुभाषित रत्न संग्रह, 3/16)*

अर्थात् विद्या, विनय प्रदान करती है, विनय से पात्रता (निपुणता) आती है, पात्रता से व्यक्ति धन प्राप्त करता है, धन से धर्म तथा अन्ततोगत्वा सुख की प्राप्ति होती है।

विद्या को सभी धनों में प्रधान निरूपित करते हुए बताया गया है कि

न चैर्यहार्य न च भ्रातभाज्य भाज्य, न राज्यहार्य नच भारकादि,
व्यये कृत वर्धन एव नित्य, विद्याधनम् सर्वधन प्रधानम्।। (नीति शतक, 28)

अर्थात् विद्या को न तो चोर चुरा सकता है, न भाई बांट सकता, न राजा छीन सकता है और न ही यह मनुष्य के लिए भारतुल्य है। यह ऐसा धन है जो व्यय करने पर भी सदैव बढ़ता है और विद्याधन सभी धनों में सर्वश्रेष्ठ है।'

शिक्षा का नियमन और प्रबंधन

इस प्रकार भारत में शिक्षा को सर्वश्रेष्ठ मान कर उसके नियम और नियमन की व्यवस्था की गई। इसमें विद्यालय का स्वरूप तय किया गया और शिक्षण के विषय भी तय हुए। शिक्षक के

प्रकार भी तय हुए और शिक्षा प्राप्त करने के बाद उनकी उपाधियां भी तय की गई। शिक्षण व्यवस्था का आधारभूत ढांचा तय होने के बाद उसके संचालन के लिए अनुदान और धन की व्यवस्था का भी विचार किया गया। इसमें राज्य पोषित, लोक पोषित और भिक्षा आधारित शिक्षण व्यवस्था को श्रेष्ठ माना गया। इन तीनों में भी भिक्षा आधारित शिक्षण व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। इसके स्वरूप का वर्णन भी व्यापक रूप से शास्त्रों में मिलता है।

गुरुकुल के प्रकार

विद्यालय जहां विद्यार्थी अपने परिवार से दूर गुरु के परिवार का हिस्सा बनकर शिक्षा प्राप्त करता था उसे गुरुकुल कहा गया है। इसका भारत के प्राचीन इतिहास में बहुत महत्व था। प्रसिद्ध आचार्यों के गुरुकुल में पढ़े हुए छात्रों का सब जगह बहुत सम्मान होता था। राम ने ऋषि वशिष्ठ के यहां रह कर शिक्षा प्राप्त की थी। इसी प्रकार पाण्डवों ने ऋषि द्रोण के यहां रह कर शिक्षा प्राप्त की थी।

प्राचीन भारत के गुरुकुलों के अंतर्गत तीन प्रकार की शिक्षा संस्थाएं थीं -

(1) गुरुकुल- जहां विद्यार्थी आश्रम में गुरु के साथ रहकर विद्याध्ययन करते थे।
(2) परिषद- जहां विशेषज्ञों द्वारा शिक्षा दी जाती थी।
(3) तपस्थली- जहां बड़े-बड़े सम्मेलन होते थे और सभाओं तथा प्रवचनों से ज्ञान अर्जन होता था। नैमिषारण्य ऐसा ही एक स्थान था।

गुरुकुल आश्रमों में अनादिकाल से ही करोड़ों विद्यार्थी विद्या-अध्ययन करते रहे हैं। भारतवर्ष के गुरुकुल आश्रमों के आचार्यों को उपाध्याय और प्रधान आचार्य को 'कुलपतिश्या महोउपाध्याय' कहा जाता था। रामायण काल में वशिष्ठ का बृहद् आश्रम था जहां राजा दिलीप तपश्चर्या करने गये थे, जहां विश्वामित्र को ब्रह्मत्व प्राप्त हुआ था। इस प्रकार का एक और प्रसिद्ध आश्रम प्रयाग में भारद्वाज मुनि का था। गुरुकुल का शाब्दिक अर्थ है 'गुरु का परिवार' अथवा 'गुरु का वंश'। परंतु यह सदियों से भारतवर्ष में शिक्षा संस्था के अर्थ में व्यवहृत होता रहा है। गुरुकुलों के इतिहास में भारत की शिक्षाव्यवस्था और ज्ञानविज्ञान की रक्षा का इतिहास समाहित है।

शिक्षा भी है एक संस्कार

भारतीय संस्कृति के विकास में चार पुरुषार्थों, चार वर्णों और चार आश्रमों की मान्यताएं तो अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए अन्योन्याश्रित थी। यज्ञ और संस्कार विधि के अनुसार ब्राह्मण 6 वर्ष की आयु में, क्षत्रिय 8 वर्ष की आयु में और वैश्य 11 वर्ष की आयु में गुरुकुल में प्रवेश करता था। उपनयन संस्कार के बाद बालक द्विज कहलाता था और गुरु के पास बैठकर ब्रह्मचारी के रूप में शिक्षा प्राप्त करता था। गुरु उनके मानस और बौद्धिक संस्कारों को पूर्ण करता हुआ उन्हें सभी शास्त्रों एवं उपयोगी विद्याओं की शिक्षा देता था। अंत में दीक्षा देकर गृहस्थाश्रम के विविध कर्तव्यों का पालन करने के लिए समाज में पुनः भेजता था। यहां पर ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य या शुद्र को जाती न होकर कर्म के अनुसार वर्ण है। यह यज्ञोपवीत के समय निर्धारित होता था कि कौन कौनसे वर्ण के लिए नेष्ठ होंगे। यह समापवर्तन अर्थात् शिक्षा पूर्व होने के बाद द्विज स्नातक कहलाता था। वहीं शूद्र (दस्तकार, शिल्पकार और शारीरिक श्रम करने वाले) शिक्षण के बाद वह कर्मकार की उपाधि प्राप्त करता था। शिक्षण सभी के लिए आवश्यक था। स्नातक या कर्मकार बनने के बाद द्विज तथा शूद्र पूर्ण नागरिक बनते थे और समाज के विभिन्न उत्तरदायित्वों का वहन करते हुए जीवनयापन करता थे।

गुरुकुल का स्वरूप

प्राचीन भारतीय काल में अध्ययन-अध्यापन के प्रधान केंद्र गुरुकुल हुआ करते थे, जहां दूर-दूर से ब्रह्मचारी, विद्यार्थी अथवा सत्यान्वेषी परिव्राजक शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। गुरुकुल छोटे अथवा बड़े सभी प्रकार के होते थे। किन्तु उन सभी गुरुकुलों को न तो आधुनिक शब्दावली में विश्वविद्यालय ही कहा जा सकता है और न उन सबके प्रधान गुरुओं को कुलपति ही कहा जाता था। स्मृति में किए गए एक वर्णन के अनुसार,

मुनीनां दशसाहस्त्रं योऽन्नदानादि पोषाणात। अध्यायपति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः।।

इस श्लोक के अनुसार स्पष्ट होता है कि, जो ब्राह्मण या ऋषि दस हजार मुनि या विद्यार्थियों को अन्नादि द्वारा पोषण करता हुआ उन्हें विद्या प्रदान करता है, उसे ही कुलपति कहते हैं। श्लोक में आए 'स्मृतः' शब्द से पता चलता है कि कुलपति के इस विशिष्टार्थग्रहण की परंपरा बड़ी पुरानी थी। कुलपति का साधारण अर्थ किसी कुल का स्वामी होता हैं। अंतेवासी विद्यार्थी कुलपति के महान विद्यापरिवार का सदस्य होता था। उसके मानसिक और बौद्धिक विकास का उत्तरदायित्व कुलपति पर होता था। आजकल इस शब्द का प्रयोग विश्वविद्यालय के 'वाइस चांसलर' के लिए किया जाता है।

शिक्षक या ब्राह्मण

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन,
मुखं किम् अस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते।।12।।
ब्राह्मणोऽस्य मुखम् आसीद बाहू राजन्यः कृतः,
ऊरू तद् अस्य यद् वैष्यः पद्भ्यां शुद्रो अजायत।।13।।
(ऋग्वेद, दसम् मण्डल, पुरुष सुक्त)

यास्क मुनि की निरुक्त के अनुसार- ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः - ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म (अंतिम सत्य, ईश्वर या परम ज्ञान) को जानता है। अतः ब्राह्मण का अर्थ है - 'ईश्वर का ज्ञाता।' किन्तु वर्तमान भारतीय समाज में पारंपरिक पुजारी अथवा पंडित को ब्राह्मण मान लिया गया है। वैदिक युग में शिक्षक को ब्राह्मण कहा गया है। स्कन्धपुराण में षोडशोपचार पूजन के अंतर्गत अष्टम उपचार में ब्रह्मा द्वारा नारद को यज्ञोपवीत के आध्यात्मिक अर्थ में बताया गया है।

जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते। शापानुग्रहसामर्थ्यं तथा क्रोधः प्रसन्नता।

अतः आध्यात्मिक दृष्टि से यज्ञोपवीत के बिना जन्म से ब्राह्मण भी शूद्र के समान ही होता है। (पं. मधुसूदन ओझा की स्कंदपुराण पर टीका के अनुसार)

कर्म के अनुसार ब्राह्मणों के प्रकार निम्नानुसार हैं -

आचार्य - वह जो बिना शुल्क के राज्य आधारित आश्रमों में शिक्षा देने का काम करें।

उपाध्याय - वह जो शुल्क लेकर निजी तौर पर शिक्षण का कार्य करे।

अग्नीहोत्री - यज्ञ के समय अग्नि का अह्वान वैदिक मंत्रों से करें वह अग्निहोत्री।

वाजपेयी - वाजपेय यज्ञ का अधिष्ठात्र और उसकी व्यास पीठ पर बैठने वाला वाजपेयी। वाजपेय यज्ञ का विशिष्ट धार्मिक एवं वैदिक महत्व है। यह सोम यज्ञों में सबसे महत्वपूर्ण है। यज्ञ आमतौर पर उच्च स्तर और बड़े पैमाने पर किया जाता है।

उद्गाता - यज्ञ के दौरान सामवेद के मंत्रों का गायन और उद्गान करने वाला उद्गाता।

द्विवेदी - दो वेदों को जानने वाला।

त्रिवेदी - तीन वेदों को जानने वाला।
चतुर्वेदी - चार वेदों को जानने वाला।
व्यास - शास्त्रों की व्याख्या करने वाला।
जोषी - ज्योतिष का जानकार और पंचागकर्ता।
शुक्ला - शुक्ल युजुर्वेद के व्याख्याकार।
भट्ट - कर्मकाण्ड का विषेशज्ञ।
पुरोहित - किसी कुल का आध्यात्मिक गुरु और सलाहकार। पतंजलि ने स्वयं लिखा है कि अह्म पुष्यमित्र यजामहे। पतंजलि महान विद्वान व्याकरणाचार्य के अलावा चिकित्सक भी थे। कई स्थानों पर इन्हें ही 'चरक संहिता' का प्रणेता माना गया है। 'योगसूत्र' पतंजलि की देन है। पतंजलि रसायन विद्या के विशिष्ट आचार्य भी थे- अभ्रक विंदास, अनेक धातुयोग और लौहशास्त्र के प्रारम्भिक संप्लेषण भी इन्होंने ही प्रस्तुत किए। राजा भोज ने इन्हें तन के साथ मन का भी चिकित्सक कहा है। वे लिखते हैं -

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शारीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि॥

अर्थात् चित्त-शुद्धि के लिए योग (योगसूत्र), वाणी-शुद्धि के लिए व्याकरण (महाभाष्य) और शरीर-शुद्धि के लिए वैद्यकशास्त्र (चरक संहिता) देने वाले मुनिश्रेष्ठ पातंजलि को प्रणाम। इसे इसी प्रकार से इतिहासकार ए.एल. बाशम और काशीप्रसाद जायसवाल ने भी प्रयोग किया है।

पण्डा, पण्ड्या, पंडित - एक विद्वान या ज्ञान के किसी भी क्षेत्र का शिक्षक है। विशेष रूप से वैदिक शास्त्र, धर्म, दर्शन, या धर्मनिरपेक्ष विषय जैसे मंदिर में संगीत। वह एक पाठशाला में शिक्षक हो सकता है। मोनियर विलियम्स कहते हैं, पंडित आम तौर पर किसी भी विद्वानों, विशेषज्ञ, पेशेवर, प्रशंसनीय, आत्म-साक्ष्य, सच्चा, बुद्धिमान, शिक्षित और सीखा आदमी हो सकता है। यह शब्द पाओ (पांड्) से लिया गया है, जिसका अर्थ है 'एकत्र करना, रक्षा करना, संरक्षण, संवर्धन, उन्नयन, आधुनिकीकरण, अद्यतन, सुधार और पर्यवेक्षण'। यह शब्द बिना किसी सामाजिक संदर्भ के वैदिक ग्रंथों में पाया जाता है। औपनिवेशिक युग के साहित्य में यह शब्द आमतौर पर ब्राह्मणों को संदर्भित करता है।

MHM

गुरुकुल शिक्षा की प्रासंगिकता

उपेंद्र राय*

* लेखक एक शिक्षाविद् हैं और निजी उच्च विद्यालय में प्राचार्य रहे हैं।

प्राचीन भारत में शिक्षा के प्रमुख स्रोत गुरुकुल थे। अगर हम प्राचीन भारत की आर्थिक समृद्धि, शैक्षणिक उन्नति, ज्ञान-विज्ञान के उत्कर्ष में विश्वास करते हैं तो हमें भारतीय पुरातन शिक्षा के केन्द्र गुरुकुलों को इसका श्रेय देना ही होगा। भारत, आक्रमणकारियों द्वारा धन-वैभव लूटे जाने के कारण, सैकड़ों वर्षों तक परकीय शासकों द्वारा स्वदेशी ब्यापार को नष्ट करने के कारण अथवा भारतीय ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा किए जाने के कारण पराभूत नहीं हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के नाम पर गुरुकुलों को नष्ट करने के बाद भारत की आत्मा को हमेशा हमेशा के लिए गुलाम बनाने की जो प्रक्रिया अंग्रेजी शासकों द्वारा प्रारंभ की गई, भारत का वास्तविक पराभव तो इसके कारण हुआ। अब अंग्रेज तो चले गए लेकिन स्वदेशी सरकारें उसी दिशा में अत्यधिक उत्साह के साथ बढ रही हैं, वे मानसिक पराधीनता के पाश को और अधिक मजबूत कर रही हैं। आज के परिप्रेक्ष्य में गुरुकुल शिक्षा की प्रासंगिकता स्पष्ट करने के पहले हमें गुरुकुल शिक्षा के संबन्ध में कुछ स्पष्टताएं होनी चाहिए।

गुरुकुल का अर्थ तथा प्रकार

गुरुकुल का अर्थ होता है गुरु का कुल यानी परिवार। भारतीय परंपरा में ऐसे विद्यालय गुरुकुल कहलाते हैं जहां विद्यार्थी अपने परिवार से दूर गुरु के परिवार का हिस्सा बनकर शिक्षा प्राप्त करता है। गुरु भी वही होता था जो छात्रों को पैसे कमाने का साधन नहीं, बल्कि अपने परिवार का अंग समझ कर शिक्षा देता था। भारत के प्राचीन इतिहास में ऐसे विद्यालयों का बहुत महत्व था। प्रसिद्ध आचार्यों के गुरुकुल के पढे हुए छात्रों का सब जगह बहुत सम्मान होता था। प्राचीन काल में गुरुकुल में तीन प्रकार की शिक्षा संस्थाएं थी -

1. गुरुकुल - जहाँ विद्यार्थी गुरु के साथ रहकर विद्याध्ययन करते थे।
2. परिषद - जहाँ विशेषज्ञों द्वारा शिक्षा दी जाती थी।
3. तपस्थली - जहाँ बड़े-बड़े सम्मेलन और सभाओं तथा प्रवचनों से ज्ञान अर्जन होता था।

गुरुकुलों के प्रमुख को कुलपति कहा जाता था, शिक्षकों को आचार्य तथा विद्यार्थीयों को ब्रह्मचारी अथवा परिव्राजक की संज्ञा दी जाती थी। प्रत्येक गुरुकुल किसी खास गुरु परंपरा का

वाहक होता था। ब्रह्मचारी जब अपनी शिक्षा पूरी कर लेता था तब विशेष समारोह और समावर्तन के द्वारा उसे विशेष जल से स्नानादि कराकर स्नातक की उपाधि से सज्जित करने की परंपरा थी। गुरुकुलों की स्थापना प्रायः वनों, उपवनों तथा ग्रामों या नगरों में की जाती थी। अधिकतर दार्शनिक आचार्य निर्जन वनों में निवास, अध्ययन तथा चिन्तन पसन्द करते थे। वाल्मीकि, सन्दीपनि, कण्व आदि ऋषियों के आश्रम वनों में ही स्थित थे और इनके यहाँ दर्शन शास्त्रों के साथ-साथ व्याकरण, ज्योतिष तथा नागरिक शास्त्र भी पढ़ाये जाते थे। बहुत से गुरुकुल गांवों या नगरों के समीप किसी बाग अथवा वाटिका में बनाये जाते थे, जिससे उन्हें एकान्त एवं पवित्र वातावरण प्राप्त हो सके। बहुधा राजा तथा सामन्तों का प्रोत्साहन पाकर विद्वान् पण्डित उनकी सभाओं की ओर आकर्षित होते थे और अधिकतर उनकी राजधानी में ही बस जाते थे, जिससे वे नगर शिक्षा के केन्द्र बन जाते थे। इनमें तक्षशिला,नालंदा, पाटलिपुत्र, कान्यकुब्ज, मिथिला, धारा, तंजोर आदि प्रसिद्ध हैं। ऐसे गुरुकुलों में दुनिया भर से छात्र शिक्षा ग्रहण करने आते थे। इसी प्रकार तीर्थ स्थानों की ओर भी विद्वान् आकृष्ट होते थे। फलतः काशी, कर्नाटक, नासिक, मिथिला आदि गुरुकुल शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र बन गये। भारत में वाल्मीकी, विश्वामित्र, वशिष्ठ, भारद्वाज, धौम्य, कपिल, कण्व, अत्रि, गौतम, वामदेव, शौनक, परशुराम, वेदव्यास, सांदीपनि, गुरु द्रोण आदि के आश्रमों की विभिन्न विषयों के शोध, संपर्क, तथा प्रसार मंस महत्वपूर्ण भूमिका रही।

हमारे देश में वैदिक काल से ही औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनो प्रकार की शिक्षा पद्धति के प्रचलन का प्रमाण विभिन्न धर्मसूत्रों में पाया जाता है। अनौपचारिक शिक्षा परिवार, पुरोहित, पंडित, सन्यासी, परिजन, त्यौहार तथा परंपराओं के माध्यम से तथा औपचारिक शिक्षा गुरुकुलों के माध्यम से दी जाती थी। गुरुकुल ऐसा स्थान होता था जहाँ विद्यार्थी माता पिता तथा समाज तथा समस्त लौकिक आकर्षणों का परित्याग कर कौपीन धारण करके किसी खास गुरु की देख रेख में शिक्षा ग्रहण करते थे। परिणामस्वरुप बाह्य जगत के आकर्षण आडम्बर से बचकर वे आत्मिक उन्नति तथा अपने उद्देश की तरफ आसानी से प्रवृत्त हो जाते थे। धीरे धीरे उनके जीवन में भौतिक आडम्बर का आग्रह समाप्त हो जाता था। आज निजी विद्यालय या परिवार में हम जिस प्रकार का वेश परिवेश विद्यार्थियों को उपलब्ध करवाते हैं उसके कारण बालक भौतिक आकर्षण से पूरी तरह गूंथ जाता है शैक्षणिक उद्देश्य पीछे छूट जाते हैं मुट्ठी भर जो सफल भी होते हैं तो उनके जीवन का उद्देश्य ही किसी भी किमत पर भौतिक संसाधन एकत्र करना होता है। उनके लिए अनैतिक कुछ भी नहीं।

अधिगमोनुकुलित था गुरुकुलों का परिवेश

लगभग 12 वर्ष की आयु में बालकों को यज्ञोपवीत संस्कारादि के पश्चात परिवार रिश्तेदार परिवार से दूर गुरुकुलों में भेज दिया जाता था। वहाँ प्रातः जागरण से रात्रि शयन तक, यज्ञ अग्निहोत्र, संध्या, भिक्षाटन, गहन स्वाध्याय तथा अपने एवं आश्रम के सभी कार्य जैसी कठोर दिनचर्या का पालन सभी ब्रह्मचारियों को करना पड़ता था। राम चरित मानस में गोस्वामी तुलसी दास जी ने इसके महत्व का जिक्र किया है। वे लिखते हैं, 'संयम नियम फूल फल ग्याना ! राम चरन रति रस अस जाना !!' अर्थात् संयम नियम के कारण पुष्प की भॉति शरीर का विकास होता है जिसमें ज्ञान रुपी फल लगते हैं और अगर ईश्वरीय आस्था के साथ है तो फल भी रसदार होगा। आमतौर पर 12 वर्ष से किशोरावस्था प्रारंभ होती है। इस समय बालक में अनेक प्रकार के अंतर्बर्हि शारीरिक मानसिक परिवर्तन आते हैं इनमें कुछ तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं जैसे चेहरे पर बाल आना, मांसपेशियों में उभार आना, नर मादा के लक्षण स्पष्ट होना आदि। और कुछ

लक्षण दिखते तो नहीं लेकिन बालक के व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करते हैं। जैसे, बालक का तीव्र संवेगात्मक विकास जिसकी वजह से बालक में प्रतिक्रियात्मकता का विकास होता है। वह आस पास की घटनाओं पर खुद की प्रतिक्रिया देता है। उसके व्यक्तित्व में भावनात्मकता की वृद्धि भी होती है जिसकी वजह से आस पास की परिस्थितियॉं आम आदमी से ज्यादा बालक के मन पर प्रभाव डालती हैं। शिवलिंग पर चढ़े प्रसाद को चूहों के द्वारा खाये जाने की घटना का बाल मन पर पड़ने वाले विशेष प्रभाव ने दुनिया को दयानंद सरस्वती दिया। राम लक्ष्मण को इसी उम्र में गुरु विश्वामित्र के द्वारा राक्षसों का अत्याचार दिखाया गया। इस वय में बालकों के मन सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनो प्रकार की प्रतिक्रियाएं असर डालती हैं।

घर का परिवेश अक्सर बालक के अधिगमानुकूल न होकर पालकों की रुचि प्रकृति के अनुसार ज्यादा होता है। बालक के मन पर यह परिणाम होता है कि जब तक निर्भर हो इनको बरदाश्त करो जब अपना टाईम आएगा अपनी चलेगी। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों पर घर की आवश्यकताओं, माता-पिता की अपेक्षाओं आदि का दबाव बढ़ जाता है, जिनके कारण वह स्वतंत्र मन से अध्ययन नहीं कर पाता। माता-पिता की अपेक्षाओं का दबाव तो इतना बढ़ रहा है कि अक्सर हमें समाचार पत्रों में परीक्षा में कम अंक आने अथवा अनुत्तीर्ण रहने पर विद्यार्थियों द्वारा आत्महत्या करने जैसी दुखद घटनाओं के समाचार पढ़ने को मिलते हैं। परिणामतः समाज में शिक्षकों की उपेक्षा तथा देश में वृद्धाश्रमों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। गृहस्थ जीवन की नकारात्मकताओं (संपत्ति विवाद, भोग वासना जनित क्रियाएं, राग द्वेष आदि) से बचाने के लिए ही प्राचीन काल में बालकों को गुरुकुलों में रखा जाता था, जहां बालक त्याग, समर्पण, आस्था, संयम तथा मितव्ययी आचार्य तथा आचार्य पत्नी के आभा आलोक में दिन-रात केवल स्वाध्याय में रत रहते थे। तात्पर्य यह कि गुरुकुल का परिवेश पूरी तरह गुणात्मक अधिगम अनुकूलित होता था। सामान्यतः गुरुकुल नगरों से दूर ही हुआ करते थे।

गुरुकुल की शिक्षा के बारे में अथर्ववेद में कहा गया है कि जिस प्रकार माता शिशु को अपने गर्भ में नौ मास तक रखती है, ठीक उसी प्रकार गुरु शिष्य को अपने गर्भ में तीन दिनों तक रखे। इसका अभिप्राय यह है कि प्रवेश लेते समय ही गुरु तीन दिनों तक शिष्य को अपने साथ रख कर न केवल स्वयं उसके बारे में सब कुछ जान ले, बल्कि शिष्य को भी उसे उसी प्रकार जानने का अवसर दे। इस प्रकार दोनों में माँ-बेटे के समान संबंध स्थापित हो जाए। यह बात आज के संदर्भों में अतिशय महत्त्वपूर्ण है। आज शिक्षकों का विद्यार्थियों से जुड़ाव बिल्कुल समाप्त हो चुका है। शिक्षक पाठ्यक्रम समाप्त करने तक ही विद्यार्थी के साथ होते हैं, विद्यालय का अवकाश होते ही उनका विद्यार्थियों से कोई संबंध नहीं रह जाता। प्राचीन गुरुकुलों के काल में शिष्यी की सामाजिक पहचान ठीक उसी प्रकार गुरु के नाम से ही होती थी, जैसे कि आज व्यक्ति की पहचान उसके पिता से होती है। इतिहास में ऐसे उदाहरण भरपूर मिलते हैं, जिनमें छात्र-छात्राएं अपने आचार्य तथा आचार्या के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ करते थे।

समाज पर अवलंबित होते थे गुरुकुल

विद्यार्थी जबसे गुरुकुल जाते थे तबसे उनका पूरा दायित्व गुरुकुल पर ही रहता था। परिवार पर न ही किसी प्रकार का आर्थिक बोझ था और न ही बालक क्या खायेगा, कहां रहेगा, क्या पढ़ेगा, उसका भविष्य क्या होगा, आदि की चिंता करनी होती थी। यह सारी चिंता गुरुकुल करता था। यहां तक कि परिवार के लोगों के लिए ब्रह्मचारी से मिलना भी निषिद्ध था। अर्थात् एक ओर परिवार बालक की हर प्रकार की जिम्मेदारी से मुक्त थे तो दूसरी तरफ उन्हें किसी प्रकार

के हस्तक्षेप का अधिकार भी नहीं था। गुरुकुलों में गुरुदक्षिणा के अलावा किसी प्रकार की राशि (tuition fee) अथवा दान आदि की परंपरा भी नहीं थी। दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति ब्रह्मचारियों के भिक्षाटन से होती थी। भिक्षाटन सभी ब्रह्मचारी करने जाते थे। भिक्षाटन भी किसी परिचित रिस्तेदार से करना पूरी तरह निषिद्ध था। मनु स्मृति में उल्लेख है कि 'ब्रह्मचारियों को गुरु के कुल, स्वयं के रिस्तेदार अथवा कुल के लोगों से भिक्षाटन स्वीकार नहीं करना चाहिए।' यानि एक विद्यार्थी के व्यक्तित्व का निर्माण इस सोच के साथ विकसित होता था कि उसका पालन समाज कर रहा है न कि उसका परिवार। इस प्रकार उसपर समाज या राष्ट्र का प्रथम अधिकार है, यह बोध व्यावहारिक रुप से पैदा करने की व्यवस्था गुरुकुलों में थी। इन व्यवस्थाओं के कारण बालक रिस्तों के मोह से निकल कर निर्लिप्त, निर्लस नागरिक बनता था जो समाज और राष्ट्र के प्रति अपनी निष्काम सेवा बिना परिवार, जाति आदि के प्रति पक्षपात के समर्पित करता था। पहली बार महाभारत काल में आधुनिक शिक्षा में पारिवारिक हस्तक्षेप देखने को मिलता है और गुरुकुल की स्थापना भी समाज और राष्ट्र नहीं अपितु व्यक्तिगत हितों की साधना के उद्देश्य से होती है और उसका परिणाम महाभारत के रुप में सामने आता है

गुरुकुलों में व्यक्तित्व का विकास गुरु, गुरुमाता के त्याग, सेवा भाव, समर्पण,मितव्ययी जीवन तथा विद्यार्थी के द्वारा सबके प्रति सम्मान तथा पूज्य भाव के परिवेश में होता है।

नीतिश्लोक में उल्लेख मिलता है कि -

देव द्वीज गुरु प्राग्यं पूजनम् शौचमार्जवम्! ब्रह्मचर्य अहिंसा च शारीरं तप उच्यते!!

उक्त दैनिक अभ्यास के साथ बालक की परवरिश होती थी। ब्रह्मचारी निर्लिप्त, निष्काम, गृहस्थ बनता था और बिना किसी जातीय, पारिवारिक रीस्तों के प्रति पक्षपात के समाज और राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों का निर्वहन करता था। पहली बार महाभारत काल में गुरुकुल की स्थापना पारिवारिक देख रेख में और गुरु आर्थिक महात्वाकांक्षाओं के लिए हुई। गरुकुल का उद्देश्य ब्रह्मचारी के व्यक्तित्व का निर्माण, समाज, राष्ट्र हित से अलग कुरुकुल शिरोमणि भीष्म पितामह की कृपापात्र बनने की हो गई क्योंकि वे सम्राट नहीं होने के बावजूद भी राज्य में सम्राट से ज्यादा प्रभावी थे। आज विद्यालयों में शिक्षण शुल्क, पुस्तक, वेश, वाहन, भवन, पर्व, त्यौहार, उत्सव आदि के नाम पर मोटी रकम अभिभावक से ली जाती है। शुल्क समय पर नहीं दिया गया तो बालक को विद्यालय से निकालने की धमकी दी जाती है कक्षा से बाहर किया जाता है। विद्यालय बुलाकर माता पिता को उसके सामने जलील किया जाता है। विद्यालय के अलावा ट्युशन, कोचिंग आदि के लिए अग्रिम मोटी रकम ली जाती है। फलतः बालक 'दरबे से सरबे चहबे से करबे' के जीवनसूत्र के साथ बडा होता है और उसके जीवन का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करने की बजाय वेतन का मोटा-बड़ा पैकेज होता है। संवेदना, त्याग, को वह उपेक्षा का विषय ही मानता है।

शिक्षण नहीं स्वाध्याय

गुरुकुल में शिक्षण नहीं स्वाध्याय की परंपरा थी और स्वाध्याय के साथ साथ अभ्यास की प्रमुखता थी। विद्यार्थी जिसे ब्रह्मचारी कहा जाता था, वे स्वाध्याय करते थे और किसी शंका के उपस्थित होने पर ही आचार्य की मदद लेते थे। किसी नई विद्या जिसे आचार्य ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक तथा जीवनोपयोगी व समाजोपयोगी समझते थे उसके सिद्धांत सूत्रों के साथ अभ्यास के लिए प्रेरित करते थे। आज शिक्षक लंबी, उबाऊ कक्षाएं लेते रहते हैं चाहे रुचिकर या उपयोगी न हो लेकिन सबको कक्षा में बैठना ही पड़ता है। विद्यार्थी समस्या और समाधान का तारतम्य समझ नहीं पाते। विद्यार्थी विद्यालय इसलिए जाते हैं क्योंकि माता पिता घर में नहीं

रहने देते। विद्यालय में कक्षा में इसलिए बैठते हैं क्योंकि यह विद्यालय का नियम है, इसके बिना विद्यालय में रह नहीं सकते। इस कारण पढ़ने में उनका मन नहीं लगता। पढ़ाई उनके लिए एक ऊबाऊ तथा निरस काम हो जाती है। विद्यालय के बाद ट्युशन में भी शिक्षण के लिए जाना होता है। इसप्रकार विद्यार्थी के जीवन में स्वाध्याय का तो समय ही नहीं है और अभ्यास तो आज कल्पना में भी नहीं है।, इसलिए मेकानिकल इंजीनियर अपने वाहन की त्रुटि ठीक करने के लिए अनपढ़ मेकैनिक पर निर्भर होता है और वह अनपढ़ मैकेनिक इंजीनियर से ज्यादा जानकार भी है क्योंकि वह अभ्यास करता है।

आधुनिक शिक्षा बिना समस्या के समाधान परोसती है जिसकी वजह से बालक में विषय के प्रति जिज्ञासा पैदा नहीं हो पाती विषय अरुचिकर हो जाता है लेकिन अपने व्यवसायिक उद्देश्यों के लिए मॉ- बाप तथा शिक्षण संस्थान उसपर निरंतर दबाव बनाए रहते हैं। वे बालक की रुचि, अरुचि, प्रकृति, सामर्थ्य से अलग अपने आर्थिक उद्देश्य के मद्देनजर बालक का उद्देश्य निश्चित करते हैं और किसी भी हाल में उसपर उन उद्देश्यों को प्राप्त करने का दबाव भी बनाते हैं। बालक के आस पास ऐसे परिवेश का सृजन करते हैं जैसे उन उद्देश्यों के बाहर जीवन का कोई औचित्य ही नहीं। उद्देश्य बालक की स्वप्रेरणा से संबन्धित नहीं होते। फलतः बालक की केवल विषय से ही नहीं अपितु व्यक्तिगत सामाजिक और पारिवारिक संबन्धों के प्रति भी अरुचि हो जाती है। कई बार तो अरुचि इतनी व्यापक और निजी हो जाती है कि बालक को अपना जीवन ही अरुचिकर बन जाता है। इसका परिणाम ही आत्महत्या के रूप में सामने आता है। प्रतियोगिता की तैयारी में लगे हुए विद्यार्थियों में बड़े पैमाने पर आत्महत्या की प्रवृत्ति निरंतर बढ़ रही है। प्रतिदिन देश में 26 विद्यार्थी आत्महत्या कर रहे हैं। वर्ष 2018 में यह यह संख्या एक वर्ष में 10,000 से अधिक हो गई थी।

गुरुकुलों में जीवन के उद्देश्य निर्धारण में ब्रह्मचारी स्वतंत्र रहता था, उसपर किसी का दबाव नहीं रहता था। सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियाँ आदि की चर्चा सत्संग या फिर समस्याओं के प्रात्याक्षिक के द्वारा आचार्य ब्रह्मचारियों के जीवन उद्देश्य को दिशा देने की कोशिश जरूर करते थे, लेकिन उनकी भूमिका अप्रत्यक्ष ही रहती थी। ब्रह्मचारी का जीवन उद्देश्य स्वयं की अंतर्प्रेरणा से होता था और उसके विषय उद्देश्य पूरक होते थे इसीलिए विषय रुचिकर होता था। स्वाध्याय के कारण अधिकतर समाधान उसका स्वयं का होता था। इसीलिए नये नये समाधान सूत्रों का सृजन स्वतः हो जाता था। आचार्य की भूमिका समाधान में सतत सहयोगी की होती थी, इसलिए उनके प्रति सम्मान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती थी। तात्कालिक सामाजिक राष्ट्रीय परिस्थितियाँ ही जीवन उद्देश्य के निर्धारण का स्रोत होती थी। इसलिए जीवन का ध्येय, श्रेय, प्रेय सब कुछ राष्ट्र हो जाता था। परिवार व स्व का भाव तो कदाचित जीवन से विलुप्त ही हो जाता था क्योंकि जन्म के कुछ वर्ष पश्चात् से ही बालक पोषण का समाज पर चला जाता था। इसलिए गुरुकुली शिक्षा के समय भारतीय समाज एक आदर्श समाज था, जहाँ लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे, अशिक्षा, बेरोजगारी लेश मात्र भी नहीं थे। समाज राष्ट्र समृद्धि के शिखर पर थे।

रुचि अनुकूल शिक्षण

गुरुकुलों की विषय का चुनाव क्षात्रों की प्रकृति, अभिरुचि और समाज की आवश्यकता के आलोक में होता था। विषय के चुनाव में परिवार की कोई भूमिका नहीं होती थी और न ही व्यावसायिक या आर्थिक महत्व के बिषयों की प्राथमिकता थी। सामाजिक, राष्ट्रीय जरुरतों को प्राथमिकता देते हुए, व्यक्तिगत रुचि-अभिरुचि एवं ब्रह्मचारी के प्राकृतिक क्षमता के आकलन

को ध्यान में रखकर आचार्य उनको शिक्षा देते थे। कर्मकाण्ड, यज्ञ अग्निहोत्र आदि की शिक्षा सबके लिए आवश्यक थी। इसके दो लाभ थे। पहला यह कि विषय रुचि का होने के फलस्वरूप ब्रह्मचारी तेजी से दक्षता हासिल करता था। चूँकि विषय विद्यार्थी की प्राकृतिक क्षमता के अनुकुल होते थे, इसलिए सफलता मिलनी सुनिश्चित होती थी। उदाहरण के लिए कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास जी ने अपने चार शिष्यों को अलग अलग शिक्षा दिया -

क) मुनि पैल को ऋग्वेद, ख) वैशंपायन को यजुर्वेद, ग) जैमिनी को सामवेद तथा घ) सुमंतु को अथर्ववेद

चारों विषयों के विषय-वस्तु भिन्न होने के कारण निश्चित रूप से इन्हें सीखने में अलग-अलग रुचि कौशल तथा प्रतिभा की आवश्यकता पड़ी होगी और कदाचित इन्हीं विशिष्टताओं की वजह से उक्त चारों ऋषियों ने चारो वेदों का लोहा समस्त विश्व समुदाय को मानने के लिए विवश किया।

आधुनिक शिक्षा में प्राकृतिक कौशल और सामाजिक आवश्यकता कोई विषय ही नहीं है। बड़े पैकेज के लिए सब लोग अनिर्दिष्ट अंधी दौड़ में शामिल हैं डॉक्टर, इंजीनियर नहीं बने तो क्या बने? जीवन का कोई मतलब ही नहीं। पिछले वर्ष की एक घटना ने आधुनिक शिक्षा जगत को बेनकाब करके रख दिया कोटा से एक लडकी जो आई. आई. टी. कोचिंग लेने वहाँ गई थी। उसने आत्महत्या किया और एक पत्र छोड़ गई, 'सॉरी पापा इस जन्म में मैं आपके सपने पूरा नहीं कर पाई।' विषय था कि लड़की साहित्य में रुचि रखती थी और पिता एवं कोचिंग संस्थान का दबाव उसपर आई.आई.टी. की परीक्षा उत्तीर्ण करने का था। कोटा के जिलाधिकारी ने इस पत्र के साथ अभिभावकों के नाम अपना आग्रह पत्र समाचार पत्रों में प्रकाशित किया था जिसमें अभिभावकों को बच्चों के रुचि के अनुसार विकास का मौका देने की बात की गई थी। समाज की जरुरतों को नजरअंदाज करके तैयार किए गए ये विद्यार्थी देश में पहले से बढ़ रही बेरोजगारी का हिस्सा ही बनते हैं और बड़े पैमाने, नक्सली हिंसा, आतंकवाद, चोरी, बलात्कार जैसी वारदातों की वृद्धि में अपना सक्रिय योगदान करते हैं।

इस प्रकार हम देखें तो गुरुकुल प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं हैं - परिवार से दूर रहकर अध्ययन करना, राज्य नहीं, समाज पर अवलंबित होना, अध्यापन की बजाय स्वाध्याय पर जोर और विद्यार्थी की रुचि के अनुसार शिक्षण। इन तीनों को आज की शिक्षा व्यवस्था में समायोजित करना ही गुरुकुल प्रणाली को लागू करना कहलाएगा। इससे आज की लगभग सभी समस्याओं का समाधान संभव है। आज व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय जीवन में जो भी नैतिक स्खलन दिख रहा है, उसका एक मात्र कारण आधुनिक शिक्षा प्रणाली है जो अंग्रेजों के द्वारा हमें आज्ञकारी नौकर बनाने, हमें हमारे इतिहास भूगोल से दूर रखने और हममें स्थायी हीन भावना पैदा करने के उद्देश्य से ही प्रारंभ की गई थी। अतः आज हमें शिक्षा के लिए कुछ परिवर्तनों के साथ गुरुकुल रचना को फिर अपनाना होगा।

संदर्भ :

1. https://economictimes.indiatimes.com/magazines/panache/between-the-lines/a-student-commits-suicide-in-india-every-hour-how-can-our-educational-system-prevent-this/articleshow/63411123.cms

2. प्रसाद कालिका बृहद हिन्दी कोष पृ. 147

3. रामचरित मानस बालकाण्ड

4. प्राचीन भारतीय शिक्षा की प्रशासनिक व्यवस्था

औपनिवेशिक शिक्षा की वाहक एनसीईआरटी

डॉ. चंद्रकांत राजू*

*लेखक भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में टैगोर फेलो हैं।

गणित को सामान्यतः एक कठिन विषय माना जाता है। अक्सर इसके लिए शिक्षकों को दोषी ठहराया जाता है या फिर विद्यार्थी स्वयं को ही दोषी मान लेते हैं। परंतु समस्या की जड़ की जाँच करने से पता लगता है कि वास्तविक समस्या विषय में ही अंतर्निहित है। इसलिए गणित-शिक्षण और की समस्या का समाधान करने और इसका एक वैकल्पिक पाठ्यक्रम बनाने के लिए गणित के इतिहास और दर्शन को समझने की आवश्यकता है।

गणित की इन्हीं समस्याओं को रेखांकित करने के लिए हम यहाँ एनसीईआरटी की कक्षा छह से लेकर नौ तक की पुस्तकों का विश्लेषण करेंगे। ये सभी पुस्तकें सभी भाषाओं में एनसीईआरटी की वेबसाइट पर उपलब्ध हैं।[1] अंग्रेजी से विभिन्न भाषाओं में किया गया अनुवाद कई स्थानों पर समझ से बाहर है। उदाहरण के लिए हिंदी अनुवादों में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जो कि हिंदी के शब्दकोषों में भी नहीं मिलते हैं।[2] इसलिए हम यहाँ अंग्रेजी पुस्तकों का ही उपयोग करेंगे। साथ ही चूँकि शिक्षा समवर्ती सूची का विषय है, इसलिए अनेक राज्यों में पुस्तकों में थोड़ा परिवर्तन मिलता है, परंतु वह अंतर काफी कम है और इस कारण उससे हमारे इस विश्लेषण के निष्कर्ष प्रभावित नहीं होते।

ज्यामिति का इतिहास और दर्शन

गणित को सार्वभौमिक मानना एक मिथक है। जैसे कि ग्रीक और रोमन अंक गणित में भिन्न लिखने की व्यवस्था नहीं थी।[3] लेकिन रिंड पैपिरस और बर्लिन पैपिरस [4] में दिए गए प्रश्नों से साबित होता है कि 3700 वर्ष पहले गणित भिन्न लिखे जाते थे। वर्ष 1575 में जब जेसुइट जेनरल क्रिस्टोफ कलैवियस [5] ने यूरोप के जेसुइट पाठ्यक्रम में व्यावहारिक गणित का विषय जोड़ा, इसके लिए उसने भास्कराचार्य की लीलावती सरीखे पारंपरिक भारतीय ग्रंथों[6] और दसवीं से 13वीं शताब्दी के बीच यूरोप में भारतीय अंकगणित लाने वाले अल-ख्वारिज्मी

की पुस्तक हिसाब-अल-हिंद का उपयोग किया था। इसी से सामान्य यूरोपियों ने भिंड लिखने की विधि सीखी।

इसी तरह सुतली या रस्सी से ज्यामिति करने की विधि हिंदुस्तान[7] और मिस्र[8] में प्रचलित थी। औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली ने इस विधि को बदल दिया और आज की तारीख में सभी बच्चे कंपास बॉक्स या ज्यामिति बॉक्स का इस्तेमाल करते हैं। यह तो सिर्फ सतह की बात है। इसके साथ साथ ज्यामिति की कई अवधारणाएं बदल जाती हैं। जैसे कि हिंदुस्तान में कोण शब्द का प्रयोग 18 वीं सदी के बाद ही शुरू हुआ। इसके पहले, वेद के जमाने से, चाप शब्द इस्तेमाल होता था। फर्क यह है कि कोण 2 सरल रेखाओं से बनता है, जबकि चाप एक वक्र रेखा है जो सुतली से ही नापी जा सकती है, कंपास बॉक्स के किसी प्रकरण से नहीं। चाप 360 अंकों से ज्यादा हो सकता है जो कि 2 सरल रेखाओं से बने कोण के लिए संभव नहीं है। चाप से रेडियन का मान आसानी से समझ में आ जाता है जो अक्सर ठीक से नहीं सिखाया जाता।

और गंभीरता से देखा जाए तो एऔपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली चर्च की शिक्षा प्रणाली थी। केवल मिशनरी स्कूल ही नहीं। यूरोप के बड़े-बड़े विश्वविद्यालय। जैसे पैरिस। ऑक्सफर्ड और कैंब्रिज चर्च ने खड़े किए[9] और सदियों तक पूरी तरह नियंत्रित किए। चर्च की संस्थाने ही यह शिक्षा हम तक लाई। यह शिक्षा प्रणाली चर्च के फायदे के लिए बनी थी, ना कि छात्रों के फायदे के लिए। लेकिन तकरीबन 200 साल में हमने यह एक बार भी नहीं सोचा कि इस शिक्षा प्रणाली में चर्च के अंधविश्वास और फरेब का जहर मिश्रित को सकता है। कभी इस बात की जांच नहीं करी। क्या हम आज की तारीख में खुली जांच करने को तैयार है? जैसे कि सभी बच्चे अपने बर्थडे क्रिस्ताने कैलेंडर पर सीखते हैं, और उसके साथ साथ जुड़े अंधविश्वास थी, जैसे कि यीशु एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। इससे हमें आर्थिक नुकसान भी होता है क्योंकि हमारे अर्थव्यवस्था कृषि और बारिश पर टिकी है और ईसाई कैलेंडर में सावन भादो जैसा कोई बारिश का मौसम नहीं है।

लेकिन कभी किसी ने यह नहीं सोचा कि कुछ ऐसा ही गणित के साथ हो सकता है। चर्च ने अपने स्वार्थ के लिए गणित को मूल रूप से बदल दिया। क्रुसेड के दौरान यूरोप के सबसे अमीर निवासी मुसलमान थे। उनकी दौलत हड़पने के लिए बलपूर्वक धर्मांतरण करने में चर्च विफल रहा। वे बाइबिल को भी सही नहीं मानते थे। केवल तक मानते थे। इसलिए चर्च ने इस्लामी अकली कलाम की नकल कर क्रिसतानी तर्कसंगत थियोलॉजी तैयार की[10]। तर्क को अपनी विरासत बताने के लिए उसका ग्रीक मूल गढ़ा।

तर्क तो चर्च ने मान लिया लेकिन एक अजीबोगरीब तरीके से। तर्क के साथ अगर तथ्य जोड़ दें तो वह विज्ञान बन जाता है, और यह तो स्पष्ट है कि तथ्य चर्च की हठधर्मिता के खिलाफ है। इसलिए चर्च ने एक तथ्यविहीन तार्किकता का आविष्कार किया। अपने पादरियों को ऐसे तथ्य विहीन तरीके से तर्क करना सिखाने के लिए एक ज्यामिति की पुस्तक को पाठ्यपुस्तक बनाया जिसका लेखक यूक्लिड को ठहराया गया।[11]

यही चर्च की विधि एनसीईआरटी ने अपने गणित के पाठ्यक्रम में अपनाई है। नवी कक्षा की पाठ्यपुस्तक में एक अध्याय है जिसका शीर्षक है 'यूक्लिड की ज्यामिति'। बच्चों को फुसलाने के लिए उन्हें यूक्लिड का फर्जी और नस्लवादी चित्र भी दिखाती है। दरअसल यूक्लिड का कोई अस्तित्व ही नहीं है, और उसके नस्ल या अस्तित्व के लिए कोई प्राथमिक प्रमाण नहीं है। यह बात पश्चिम के विद्वान भी। दो दशकों से मान चुके हैं।[12] इसलिए मैंने यूक्लिड

के प्राथमिक प्रमाण के लिए □200000 का इनाम घोषित किया है[13], लेकिन पिछले एक दशक में प्रमाण देकर इनाम लेने वाला कोई ना मिला। लेकिन एनसीईआरटी का कहना है की प्राथमिक प्रमाण की कोई जरूरत ही नहीं है। अगर कोई मिथक पश्चिम की 10 पुस्तकों में पाया जाता है तो हिंदुस्तानी बच्चों के लिए के लिए उसमें विश्वास करना अनिवार्य है[14], और उसको चैलेंज करना और प्रमाण मांगा गुनाह है। औपनिवेशिक शिक्षा का मूल उद्देश्य पश्चिम में अंधविश्वास बिठाना था और यही काम आज एनसीईआरटी आज पूरे जोर-शोर से कर रही है।

दरअसल इस अध्याय में एक नहीं 10 झूठ है। जैसे कि हर तरह के देशज ज्ञान का तिरस्कार करना और पश्चिमी ज्ञान को श्रेष्ठ बताना चर्च के प्रचार का बड़ा हिस्सा था। ठीक यही काम आज एनसीईआरटी अपनी गणित की पुस्तक में कर रही है। बच्चों को सिखाया जाता है कि दुनिया भर में विकसित ज्यामिति निम्न कोटि की थी क्योंकि वह महज व्यावहारिक थी। यह भी सिखाया जाता है की केवल ग्रीक ज्यामिति उच्च कोटि की थी क्योंकि केवल वह तर्क पर आधारित थी। यह बात तो सरासर झूठ है की तर्क पर ग्रीक का या चर्च का कोई एकाधिकार था। असली अरस्तु के पहले से भी बुद्ध के जमाने से चले आ रहे (लोकायत को छोड़) सभी हिंदुस्तानी दर्शन तर्क पर आधारित प्रमाण को मानते हैं। लेकिन हिंदुस्तानी दर्शन और गणित दोनों ही तर्क के साथ साथ प्रत्यक्ष प्रमाण भी मानते हैं, जैसे कि आज विज्ञान मानता है। ऐसे प्रमाण का उपयोग हिंदुस्तानी गणित में भी पाया जाता है। जैसे कि दूर के झाड़ दिखाई नहीं देते हैं, चाहे वह कितने ही ऊंचे क्यों न हो[15], और क्षितिज गोलाकार है इस अवलोकन से आर्यभट ने निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी कदंब के फूल के समान गोल है।[16] इसी प्रकार पाइथागोरियन प्रमेय के हिंदुस्तानी प्रमाण में दोनों प्रत्यक्ष और तर्क का इस्तेमाल है। और याद रहे कि चर्च के गणित में प्रत्यक्ष प्रमाण[0] वर्जित है, हालांकि एनसीईआरटी की पुस्तकों में इस बात को स्पष्ट रूप से कभी नहीं समझाया जाता है, ताकि सारे बच्चे बहकावे में रहे।

यह बात भी झूठी है कि किसी ग्रीक ग्रंथ में प्रत्यक्ष को वर्जित कर पूरी तरह से निगमन पर आधारित कोई भी प्रमाण मिलता है।[18] यानी कि यूक्लिड के ग्रंथ में पाइथागोरियन प्रमेय का जो प्रमाण मिलता है वह हिंदुस्तानी प्रमाण से कोई अलग सिद्धांत पर आधारित नहीं है। यह भी झूठ है कि इस ग्रंथ के लेखक का ऐसा कोई इरादा था हालांकि यह झूठ कैंब्रिज के पाठ्यक्रम में सदियों तक घुसा रहा।[19] इस ग्रंथ के भाष्यकार प्रोक्लू विस्तार से वही पुरानी बात समझाते हैं।[20] अफलातून के जमाने से ग्रीक ने ज्यामिति को मजहब और आत्मा से जोड़ा। (इस बात को कोई भी दो मिनट में जाँच सकता है क्योंकि अफलातून के मेनू जैसे लेख ऑनलाइन मिलते हैं।[21]) लेकिन इस बात को एनसीईआरटी हमारे बच्चों को भूलकर भी नहीं सिखाती है। पूरी तरह से निगमन पर आधारित प्रमाण केवल बीसवीं सदी के बाद ही मिलते हैं।

प्रत्यक्ष को वर्जित कर निगमन करने से क्या फायदा होता है यह बात एनसीईआरटी समझाने में असमर्थ है। सच तो यह है कि इस विधि से कोई भी बकवास प्रमेय को साबित किया जा सकता है। जैसे कि

(1) सभी जानवर के दो सींग होते हैं।

(2) खरगोश एक जानवर है।

(3) इसलिए खरगोश के दो सींग होते हैं।

निगमन यानी डिडक्शन एकदम सही है, लेकिन निष्कर्ष गलत है, और उसका सच्चाई से कोई ताल्लुक नहीं है। इस बकवास का डिडक्टिव प्रमाण दो प्रतिज्ञाओं पर आधारित है जिसमें

से पहली प्रतिज्ञा कि सभी जानवर के दो सींग होते हैं, गलत है। यह गलत इसलिए है कि हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि कई एक जानवर ऐसे हैं जिनके सींग नहीं है। लेकिन पश्चिमी औपचारिक गणित (formal mathematics) में प्रत्यक्ष पूरी तरह से वर्जित है तो हमें यह बात कैसे पता चलेगी? रसेल का कहना है कि डिडक्टिव प्रमाण किन्हीं भी प्रतिज्ञाओं से शुरू हो सकता है जो हमें हास्यास्पद (amusing) लगती हैं[22], और मुझे सभी जानवर के दो सींगों की बात अत्यंत हास्यास्पद लगती है। लोकायत की आलोचना सही थी की निगमन से प्राप्त ज्ञान सरासर गलत हो सकता है।

जैसे कि एनसीईआरटी की नौवीं कक्षा की पुस्तक सही समझाती है आज की तारीख में 'स्वयंसिद्ध' कुछ नहीं है और सब कुछ परिकल्पना पर आधारित है। निगमन का निष्कर्ष सही है या गलत है इसके लिए कम से कम परिकल्पना की जांच आवश्यक है। लेकिन ऐसी जांच हो नहीं सकती क्योंकि चर्च के गणित में परिकल्पना में भी प्रत्यक्ष वर्जित है। उदाहरण के लिए एनसीईआरटी की छठी की पाठ्यपुस्तक यह समझाती है की ज्यामिति के बिंदु अदृश्य होते हैं। और पुस्तक यह परिकल्पना रखती है की दो अदृश्य बिंदुओं को एक ही अदृश्य सरल रेखा से जोड़ा जा सकता है। भला इसकी जांच कैसे की जाए? अगर दोनों बिंदु दिखते हैं तो यह परिकल्पना गलत है क्योंकि उनको एक से ज्यादा सरल रेखा से जोड़ा जा सकता है। इसी तरह की बहुत सारी गैर भौतिक परी कल्पनाएं हैं, जैसे की सरल रेखा अनंत है। यह हमें कैसे मालूम? शायद ब्रह्मांड ही सीमित है, तो परिकल्पना का सत्यापन किसी प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं केवल आधिकारिक रूप से किया जा सकता है। यह चर्च के लिए बहुत सुविधाजनक था क्योंकि अधिकारिक रूप से कुछ भी बकवास को सत्य स्थापित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए ऐसा अक्विनस[23] ने किया। उसने यह स्थापित किया कि 1 पिन के सर पर बहुत सारे एंजल बैठ सकते हैं क्योंकि उसकी परिकल्पना में एंजेल ज्यामितीय बिंदु के समान कोई जगह नहीं लेते।

चर्च का मकसद कुछ भी रहा हो, क्या हम आज की तारीख में गणित विज्ञान और तकनीकी के लिए सीखते हैं या इस तरह के बकवास के लिए। और अगर विज्ञान के लिए सीखते हैं, जो खुद ही प्रत्यक्ष पर आधारित है, तो प्रत्यक्ष को वर्जित करने का क्या फायदा है?

फायदा तो नजर नहीं आता है लेकिन नुकसान जाहिर है। भला अदृश्य बिंदु के बारे में बच्चा कैसे समझ सकता है? कुछ इसी तरह एक और एक दो होते हैं यह हम बच्चे को प्रत्यक्ष के सहारे सिखाते हैं। जैसे कि एक संतरा और एक संतरा मिलकर दो संतरे होते हैं। यह बात बच्चा आसानी से समझ जाता है। लेकिन प्रत्यक्ष को वर्जित कर इसी बात का प्रमाण देने में रसल और वाइटहेड को 368 पेज लगे। जाहिर है कि इस तरीके से बच्चों को अंकगणित नहीं सिखाया जा सकता। यह भी जाहिर है कि इस तरह से अंक गणित सिखाने में कुछ भी व्यापारिक लाभ नहीं है। तो प्रत्यक्ष को वर्जित कर देने से गणित अत्यधिक कठिन हो जाता है और इससे कोई भी फायदा नहीं होता है। लेकिन आगे चलकर कैलकुलस इत्यादि इसी तरह से सिखाए जाते हैं। इसलिए वह ज्यादातर विद्यार्थियों के लिए बहुत कठिन माने जाते हैं। इसका सरल उपाय यह है कि हम हिंदुस्तानी गणित के विधि से प्रत्यक्ष को मान ले। और ज्यामिति कैलकुलस इत्यादि हिंदुस्तानी विधि से करें जैसा कि कई देशों में पिछले एक दशक में शैक्षणिक प्रयोग कर दर्शाया जा चुका है।[24]

लेकिन चर्च के अंधविश्वास औपनिवेशिक शिक्षा पाए लोगों को जकड़ के पकड़ लेते हैं। और हमारा एनसीईआरटी उसी पर टिका हुआ है। दोनों तरीकों की तुलना तो दूर, सार्वजनिक

बहस से कतराता है, पश्चिम में अंधविश्वास सिखाने पर तुला हुआ है।

वैसे भी निगमन में कई तरह की खामियां हैं और गलतियां आसानी से हो सकती हैं। एनसीईआरटी के किसी प्रोफेसर ने 1+1=2 का 368 पेज का प्रूफ नहीं पड़ा है। इसलिए वह अपने ज्ञान पर नहीं कह सकते कि इसमें कोई भी गलती नहीं है। शतरंज का खेल पूरी तरह से निगमन पर आधारित है। लेकिन दुनिया का अच्छे से अच्छा खिलाड़ी हर बार मशीन से हार जाता है इसलिए कि निगमन में गलती हमेशा करता है। तो यह कहना कि निगमन में गलती नहीं होती है महज अंधविश्वास है।

निगमन में गलती के और भी कई स्त्रोत हैं। पश्चिम अथवा चर्च की नूतनता इसमें है कि वे प्रत्यक्ष प्रमाण को खारिज कर देते हैं। पश्चिम में यह चर्च का अंधविश्वास रहा कि तर्क यानी लॉजिक सार्वभौमिक है क्योंकि गॉड भी इससे बंधा है। इसलिए फॉर्मल गणित के सभी प्रमाण बायनरी लॉजिक पर आधारित हैं। हिंदुस्तान में न्याय तथा वैशेषिक दर्शन प्रणाली में यह लॉजिक मिलता है। लेकिन हिंदुस्तान में असली अरस्तु के पहले से भी और भी अलग-अलग किस्म के लॉजिक पाए जाते हैं जैसे कि बौद्ध चतुषकोटि, जैन स्यादवाद इत्यादि। तो सांस्कृतिक तौर पर लॉजिक सार्वभौमिक नहीं है। तो असली बात यह निकलती है कि लॉजिक का आधार भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही हो सकता है। अगर प्रत्यक्ष से देखा जाए तो हमें क्वांटम लॉजिक के बारे में भी सोचना होगा। तो लॉजिक का आधार भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही हो सकता है और इसलिए लॉजिक बायनरी होना जरूरी नहीं है, जैसे पश्चिम के गणित दर्शन ने गलत माना है। इसलिए भी निगमन प्रत्यक्ष प्रमाण से कमजोर है।[25]

औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली के बचाव में और किसी भी तरह के बदलाव के खिलाफ कुछ आम आपत्तियां उठाई जाती हैं। उपनिवेशवाद दुनिया भर में फैला और उसने चर्च की शिक्षा को वैश्विक बना दिया। और औपनिवेशिक शिक्षा की सबसे बड़ी सीख यह है कि हमें हमेशा पश्चिम की नकल करना चाहिए। इसलिए यह कहा जाता है कि ऐसा गणित का पाठ्यक्रम वैश्विक है इसलिए हमें भी इसकी अंधी नकल करना चाहिए, अपना दिमाग हरगिज़ नहीं लगाना चाहिए। लेकिन कोई चीज वैश्विक होने से सार्वभौमिक या सही नहीं हो जाती। जैसे कि ईसाई कैलेंडर वैश्विक हो गया है, लेकिन यह कैलेंडर पिछड़ा होने के कारण पूर्णिमा और अमावस्या नहीं बताता है। हमारे होली और दीपावली जैसे त्योहार पूर्णिमा और अमावस्या को ही आते हैं, जोकि हिंदुस्तानी पंचांग सही दर्शाता है। हमारी अर्थव्यवस्था कृषि पर टिकी है तो हमें बारिश के मौसम सावन और भादो के बारे में जानना जरूरी है जोकि ईसाई कैलेंडर नहीं दर्शाता है।[26] हमें वैश्विकता से पहले हमारी अपनी आवश्यकताओं को देखना है। इसके लिए हमें अपने देश की सभी चीजों को हीन भावना से देखने की औपनिवेशिक मानसिकता छोड़नी पड़ेगी।

दूसरी आम आपत्ति उठाई जाती है कि आज का गणित जैसा भी है वह काम करता है और आदमी को चांद तक पहुंचा देता है। यह भी सरासर गलत है। रॉकेट का प्रक्षेपण जानने में पश्चिमी औपचारिक गणित के 'वास्तविक संख्या' जैसे गैर भौतिक तत्व की कोई भूमिका नहीं है। यह संख्यात्मक विधि से कंप्यूटर पर किया जाता है जिसमें 'वास्तविक संख्या' जैसी गैर वास्तविक चीजें इस्तेमाल नहीं कर सकते।[27] इसी संख्यात्मक विधि से आर्यभट ने कैलकुलस का आविष्कार किया था। लेकिन औपनिवेशिक शिक्षा नकल करने का पाठ इतनी गहराई से सिखाती है कि आज की तारीख में हम किसी वैकल्पिक गणित की चर्चा तक नहीं कर सकते। वैसे पिछले दशक में किए गए शैक्षिक प्रयोगों में यह स्थापित किया गया है की हिंदुस्तानी विधि से कैलकुलस पढ़ाने में विद्यार्थियों का लाभ होता है और वह कैलकुलस के ऐसे कठिन सवाल

हल कर लेते हैं जो कि आज की तारीख में सामान्य पाठ्यक्रम में नहीं सिखाए जाते हैं। लेकिन औपनिवेशिक मानसिकता के लोग नकल नहीं करने से बहुत ज्यादा डरते हैं, क्योंकि अंधी नकल करने का पाठ उन्हें बचपन से ठोक-ठोक कर सिखाया गया है।

औपनिवेशिक शिक्षा एक प्रकार की पराधीनता ही है। यह बच्चों को केवल नकल करना सिखाती है। और क्या यही हमारा एनसीईआरटी और सरकार भी चाहते है? यदि नहीं तो विकल्प पर चर्चा करने में भी इतना डर क्यूं? चूँकि इन विषयों पर देश में खुली चर्चा नहीं हो पाती है और विद्यार्थियों को कक्षा में सवाल उठाने से हतोत्साहित किया जाता है, इसलिए एनसीईआरटी के जयंती के पाठ्यक्रम के भीतर गजब अंतर्विरोध छुप जाता है। आज की तारीख में एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तक SAS (side angle side) परिकल्पना सिखाती है। कई दशक पहले (जब मैंने स्कूल में ज्यामिति सीखी) यह SAS प्रमेय था। प्रमेय से परिकल्पना में इसलिए बदल गया कि इसका प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण पर आधारित था, जैसे कि रसैल और हिलबर्ट ने समझाया। हम एक त्रिभुज को लेकर दूसरे त्रिभुज के ऊपर रखते हैं और देखते हैं कि दोनों त्रिभुज बराबर हैं। रसूल और हिलबर्ट ने इसे अमान्य कहा सिर्फ इसलिए कि औपचारिक गणित में प्रत्यक्ष प्रमाण वर्जित है और आज हम इसकी अंधी नकल करते हैं।

लेकिन कंपास बॉक्स से किसी रेखाखंड की लंबाई नापने की विधि भी प्रत्यक्ष पर आधारित है। हम स्केल लेकर रेखाखंड के ऊपर रखते हैं और देख कर ही लंबाई नापते हैं। अगर प्रत्यक्ष अमान्य है तो कंपास बॉक्स भी अमान्य होना चाहिए, और लंबाई नापना भी अमान्य होना चाहिए। हिलबर्ट की ज्यामिति[28] इसलिए सिंथेटिक कहलाई जाती है कि इसमें लंबाई नापना अमान्य है। लेकिन ऐसा कर देने से प्रत्यक्ष के वर्जित होने की बात खुलेआम सामने आ जाएगी और एनसीईआरटी इसे छुपाना चाहता है क्योंकि ऐसी ज्यामिति की व्यवहारिकता पर सवाल खड़ा हो जाएगा। इसलिए एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तक चर्च के तरीके से अंतर्विरोध को निगल जाती है। SAS परिकल्पना है, प्रमेय नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष अमान्य है। लेकिन लंबाई नापने के लिए प्रत्यक्ष मान्य है। निगमन का यह सिद्धांत है कि ऐसे अंतर्विरोध से कुछ भी बकवास साबित किया जा सकता है।

खुली चर्चा करने से ऐसी कई सारी दिक्कतें सामने आ जाएंगी जिन पर एनसीईआरटी के एक्सपर्ट ध्यान नहीं देते हैं। जैसे कि एनसीईआरटी सरल रेखा की परिभाषा ऐसे कर है कि वह दो बिंदुओं के बीच सबसे छोटी लंबाई की रेखा है। लेकिन वक्र रेखा की लंबाई कैसे नापते हैं यह नहीं समझाती। अगर यह प्रत्यक्ष रूप से सुतली के सहारे किया जाता है तो पहली बात तो यह कि परिभाषा में ही अगर प्रत्यक्ष आ जाता है तो प्रत्यक्ष को वर्जित करने का सवाल ही नहीं उठता है, और फिर SAS प्रमेय क्यों न माना जाए। दूसरी बात यह कि प्रत्यक्ष में अगर लंबाई नापी जाए तो इसे असली दुनिया में कहीं ना कहीं करना होगा। कहां? अगर पृथ्वी की सतह पर है तो सबसे छोटी लंबाई की रेखा हरगिज सरल रेखा नहीं है, क्योंकि पृथ्वी गोल है। यही निष्कर्ष अंतरिक्ष में भी लागू होता है। जाहिर है कि प्रत्यक्ष को वर्जित करने से कई सारी कठिनाइयां आ जाती हैं।

तो प्रत्यक्ष को वर्जित करने में क्या फायदा है? सिर्फ नुकसान ही नुकसान दिखाई देता है। तो फिर हम क्यों ना अपनी पुरानी विधि से सुतली के सहारे प्रत्यक्ष ज्यामिति सिखाएं? ऐसा करना कोई बहुत कठिन काम नहीं है। मैंने पारंपरिक रज्जू गणित पर आधारित एक पाठ्यपुस्तक तैयार किया है।[29] इससे कई और फायदे हैं। यह बात तभी सामने आ सकती है जब एनसीईआरटी अपनी अंधी नकल की जिद छोड़ कर खुली चर्चा के लिए तैयार होता है। जब

तक ऐसा नहीं होता हमारे लाखों करोड़ों विद्यार्थी आज भी औपनिवेशिक 'शिक्षा' के पराधीन बने रहेंगे।

संदर्भ

1. http://ncert.nic.in/textbook/textbook.htm?iemh1=5-15, See, also, related material (Appendix 1) on "proof in
mathematics".
2. Thus, consider the definition of "angle" in the class 6 text NCERT, »‡æç‡æ,
http://ncert.nic.in/textbook/textbook.htm?fhmh1=4-14. (p. 85). The English text defines an angle as two straight
lines (or rays) with a common initial point. The Hindi translation involves a peculiar word: ©ÖØÚUçÜ to speak of
the common initial point. The word is not found in common Hindi dictionaries.
3. See, e.g., video of talk at MIT, Cambridge, Mass, 'Calculus the real story',
https://www.youtube.com/IaodCGDjqzs.
4. M. Clagett, Ancient Egyptian science: A source book. Vol. 3. Ancient Egyptian mathematics. American
Philosophical Society, Philadelphia, 1999.
5. C. K. Raju, Cultural Foundations of Mathematics, Pearson Longman, 2007.
6 Cultural Foundations of Mathematics, cited above.
7. S. N. Sen and A. K. Bag, The sulbasutras, Indian National Science Academy, Delhi, 1983
8. Clagett, cited above.
9. Translations and Reprints from the Original Sources of European History, No. 3, The medieval student, trans.
Dana C. Munro, University of Pennsylvania Press, Philadelphia, 1897, Vol. II: No. 3, pp. 7-11. "Statutes of Gregory
IX for the University of Paris, 1231."
10. C. K. Raju, "The Religious Roots of Mathematics", Theory, Culture & Society 23 Jan-March 2006, Special Issue
ed. Mike Featherstone, Couze Venn, Ryan Bishop, and John Phillips, pp. 95–97. Also, Euclid and Jesus: how and why the church changed mathematics and Christianity across two religious wars, Multiversity, 2012.
11. See the amended Cambridge exam regulations quoted in the book H. M. Taylor, Euclid's Elements of geometry,
Cambridge University Press, 1893. An extract is posted online at:
http://ckraju.net/geometry/cambridge-note.html.
12. David Fowler, "What is known at present about the person Euclid? Nothing." http://mathforum.org/kb/thread.jspa?
threadID=381990&messageID=1175734%\#1175734, Historia Matematica discussion list, 10 Nov 2002.
13. "Decolonising History: Goodbye Euclid!" Special lecture at Universiti Sains Malaysia, 22 July 2011. See, poster at http://ckraju.net/blog/?p=63. The prize for RM 10,000, had been announced earlier, but the video of the talk has the proof of its announcement in the presence of the Malaysian deputy education minister who chaired the talk. The video links have changed, and the video of the lecture "Goodbye Euclid" in 3 parts is now posted at Part 1: https://
www.youtube.com/watch?v=sEK1FCrLHjU, Part 2:
https://www.youtube.com/watch?v=MFf5co3G3R8, Part 3:
https://www.youtube.com/watch?v=zomZU949Cnw.
14. "NCERT unable to produce evidence for Euclid" http://ckraju.net/blog/?p=173, and "Second grievance against
NCERT", http://ckraju.net/blog/?p=175.
15. लल्ल, शिष्यधीविद्रधी, अध्याय २०, मिथ्याज्ञाननिराकरणम
16. आर्यभटीय, गोलपाद, 6-7 compares the earth to a kadamba flower and asserts it stands supportless in space.
17. C. K. Raju, "Computers, Mathematics Education, and the Alternative Epistemology of the Calculus in theYuktiBhāsā", Philosophy East and West, 51:3 (2001) pp. 325–362.
http://ckraju.net/papers/Hawaii.pdf. Also "Mathematics and Culture", in History, Culture and

Truth: Essays Presented to D. P. Chattopadhyaya, ed. Daya Krishna and K. Satchidananda Murthy, Kalki Prakash, New Delhi, 1999, pp. 179–193.
18. B Russell, The Teaching of Euclid, The Mathematical Gazette 2 (33) (1902), pp. 165-167. http://ckraju.net/geometry/Bertrand%20Russell%20on%20Euclid.htm,
19. http://ckraju.net/geometry/cambridge-note.html.
20. Proclus, A Commentary on the First Book of Euclid's Elements, trans. Glenn R. Morrow, Princeton University Press, Princeton, New Jersey, 1970, p. 38.
21. Plato, Meno, trans. B. Jowett, available online at the Internet Classics Archive, http://classics.mit.edu/Plato/meno.html. (Search for the fourth occurrence of "soul", or see the exposition in Euclid and Jesus, cited above.)
22. Bertrand Russell, "Mathematics and the metaphysicians", in Mysticism and Logic and other essays, George Allen and Unwin, 1918, 2nd paragraph (labeled 75).
23. Thomas Aquinas, Summa Theologica, First Part, Q. 52, article 3. http://www.newadvent.org/summa/1052.htm#article3.
24. C. k. Raju, "Decolonising mathematics", AlterNation 25(2) (2018) pp. 12-43b. https://doi.org/10.29086/2519-5476/2018/v25n2a2.
25. C. k. Raju, Logic, in Encyclopedia of Non-Western Science, Technology and Medicine, ed. Helaine Selin, Springer, 2008, 2014, 2016. pp. 2564–2570. http://ckraju.net/papers/Nonwestern-logic.pdf.
26. C. K. Raju. "A tale of two calendars", in Multicultural knowledge and the university, ed. Claude Alvares, Multiversity, 2014, pp. 112-119. See also video at https://www.youtube.com/MvpuC7Dg4e0.
27. See, e.g., hawaii paper on 'Computers, math education,...', cited above.
28. D. Hilbert, Foundations of Geometry, trans. E. J. Towsend, Open Court, La Salle, 1950.
29. C. K. Raju, Rajju Ganita: String geometry for class IX. See cover http://ckraju.net/geometry/Rajju%20Ganita
%20cover-front-back-r.pdf, table of contents http://ckraju.net/geometry/Rajju-Ganit-toc.pdf, and draft teacher's manual, http://ckraju.net/geometry/Rajju-ganit-draft-teacher-manual.pdf. For details of pedagogical experiments, and teacher-training workshops, see e.g., the poster at http://ckraju.net/blog/?p=155, and the media reports at http://ckraju.net/blog/?p=156.

MHM

कितना सटीक है अकादमिक अर्थशास्त्र?

प्रशांत सिंह*
* लेखक एक अर्थशास्त्री हैं और 'पॉलिटिक्स ऑफ इकोनॉमिक्स' नामक पुस्तक के लेखक हैं।

आजकल शिक्षण संस्थानों में जो अर्थशास्त्र पढ़ाया जाता है, उसका मूल उद्देश्य हमें बाजार अर्थव्यवस्था के बारे में कुछ जानकारी देना है। इस प्रकार के अर्थशास्त्र की शुरुआत यूरोप में 19वीं शताब्दी में हुई जबकि इसके पूर्व शिक्षण संस्थानों जो अर्थशास्त्र पढ़ाया जाता था वह राजनैतिक अर्थशास्त्र होता था जिसका मूल उद्देश्य यह बताना होता था कि राज्य अपने कराधान का निर्धारण अच्छी तरह से कैसे कर सकता है। कौटिल्य के ग्रन्थ अर्थशास्त्र की मूल विषय वस्तु भी यही थी।

अब प्रश्न यह उठता है कि 19वीं शताब्दी के पूर्व के अर्थशात्र विषय में हमें बाजार अर्थव्यवस्था के बारे में कुछ क्यों नहीं बताया जाता था? इसपर अर्थशास्त्र के विद्वान यह बताएँगे कि चूँकि पहली बार बाजार अर्थव्यवस्था 19वीं शताब्दी में ही यूरोप में आई, इसीलिए इस प्रकार का अर्थशास्त्र 19वीं शताब्दी में आया।[1] यह पूरी तरह से निर्मूल और असत्य धारणा है। वास्तविकता यह है कि बाजार अर्थव्यवस्था आदिकाल से ही मानव सभ्यता का अंग रही है। आखिरकार बाजार अर्थव्यवस्था की मूल अवधारणा तो यही न है कि सामाज के हर व्यक्ति (उत्पादक) द्वारा अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन और उसका विक्रय/विपणन। फिर तो ऐसा हमेशा से ही होता आया है; मानव सभ्यता के प्रारंभ से ही व्यक्ति अपनी-अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन और समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ उसका क्रय-विक्रय करता आया है। उदाहरण के लिए किसान अनाज का उत्पादन करता था और उस अनाज के बदले वह कुम्हार से बर्तन, जुलाहे से वस्त्र, ग्वाले से दूध इत्यादि लेता था। फिर उसी अनाज के बदले धोबी उसका वस्त्र धोता था, नाई उसका क्षौर कर्म करता था, इत्यादि। यह तो रहा सीधे-सीधे वस्तु से वस्तु/सेवा का विनिमय; इसके अतिरिक्त वस्तुओं का आपसी विनिमय धन यानी कि सोने-चाँदी अथवा राज्यनिर्धारित मुद्रा के द्वारा भी होता था। किसी एक वस्तु/सेवा का अन्य वस्तुओं/सेवाओं से विमिमय दर क्या हो, यह बहुत से कारकों पर निर्भर था और इस विनिमय दर का निर्धारण

समाज अपनी समझ और अनुभव द्वारा खुद करता था; इसमें शासन का हस्तक्षेप न्यूनतम ही होता था। आखिरकार यही तो बाजार अर्थव्यवस्था है। अतः यह अवधारणा कि बाजार अर्थव्यवस्था की शुरुआत 19वीं शताब्दी में यूरोप से हुई पूरी तरह से निर्मूल और असत्य है।

अब जैसा कि हमने ऊपर देखा कि बाजार अर्थव्यस्था की अवधारणा इतनी सीधी और सरल थी कि इसको समझने या समझाने के लिए किसी अतिरिक्त शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। इसीलिए बाजार अर्थव्यवस्था कैसे कार्य करती है इस विषय पर कोई शिक्षा नहीं दी जाती थी, यह लोगों की सामान्य-समझ का हिस्सा थी। तो फिर 19वीं शताब्दी में ऐसा क्या कुछ हुआ कि अर्थशास्त्र के विषय के वर्तमान स्वरूप का सृजन हुआ?

पूंजीवाद और बाजार अर्थव्यवस्था में अंतर

वास्तविकता में 19वी शताब्दी के यूरोप (या ब्रिटेन) में जो कुछ शुरू हुआ था वह पूंजीवाद था न कि बाजार अर्थव्यवस्था। तो फिर आखिरकार पूंजीवाद है क्या? पूंजीवाद को समझने के लिए हमें यह समझना होगा कि पूंजीवाद के पूर्व की बाजार अर्थव्यवस्था का मूल तत्व क्या था। जैसा कि ऊपर समझाया गया है कि बाजार अर्थव्यवस्था का मूल तत्व है वस्तु विनिमय। वह चाहे वस्तु से वस्तु का सीधा विनिमय हो या धन के माध्यम से। उदाहरण के लिए अगर कोई किसान 1000 किलो अनाज पैदा करता है तो वह 100 किलो अनाज स्वयं अपने और अपने परिवार के उपभोग के लिए रख लेगा और शेष 900 किलो वह सामाज के अन्य उत्पादकों (कुम्हार, जुलाहा, नाई, धोबी इत्यादि) के साथ विनिमय करेगा; यह वस्तु से वस्तु/सेवा का सीधा विनिमय हो सकता है या धन के माध्यम से। अगर धन के माध्यम से विनिमय होगा तो पहले किसान अपने अनाज को कुम्हार, जुलाहा, नाई, धोबी इत्यादि को धन के बदले बेचेगा फिर उसी धन को कुम्हार, जुलाहा, नाई, धोबी इत्यादि को देकर उनकी वस्तु/सेवा खरीदेगा। इसका तात्पर्य यह है कि किसान ने जितना धन अपना अनाज अन्य लोगों (कुम्हार, जुलाहा, नाई, धोबी इत्यादि) को बेचकर इकट्ठा किया वह लगभग उतना ही धन उन लोगों से उनकी वस्तुओं/सेवाओं को खरीदने में खर्च कर देगा। तो क्रय-विक्रय के इस चक्र में कोई भी उत्पादक धन का निरंतर संचय नहीं करता; उत्पादक अपने उत्पाद को बेचकर जो भी धन कमाते हैं, वह धन उनके द्वारा दूसरे उत्पादकों के उत्पादों को खरीदने में व्यय हो जाता है। इस प्रकार के अर्थतन्त्र में आपूर्ति और मांग का प्राकृतिक रूप से संतुलन बना रहता था और इस प्रकार के बाजार अर्थतंत्र में धन एक विनिमय का माध्यम मात्र था। इस तंत्र में अगर किसान 1000 किलो अनाज पैदा करता है तो वह पूरे 1000 किलो अनाज के बराबर वस्तुओं/सेवाओं का उपभोग कर लेता है। यह अर्थतंत्र पूंजीवाद के पूर्व की बाजार अर्थव्यवस्था ही है। अब प्रश्न यह है कि आखिरकार पूंजीवाद क्या है?

मान लीजिये कि उपरोक्त किसान का उत्पादन 2000 किलो हो गया परन्तु उसके उपभोग की आवश्यकताएं (पूर्व की भांति) 1000 किलो अनाज का विक्रय/विनिमय (100 किलो स्वयं उपभोग करके और 900 किलो का विक्रय/विनिमय करके) करके ही पूरी हो गयी और उसके पास 1000 किलो अनाज फिर भी बचा हुआ है। किसान के पास बचा हुआ 1000 किलो का अनाज उसका अतिरिक्त उत्पादन है। तो अब प्रश्न यह है कि किसान 1000 किलो अनाज के अतिरिक्त उत्पादन का क्या करेगा? चूँकि उसके उपभोग की आवश्यकताएं 1000 किलो अनाज बेचकर पहले ही पूर्ण हो चुकी हैं, अतः वह बचे हुए अनाज का उपभोग की अन्य वस्तुओं के साथ विमिमय करने से उसकी कोई उपयोगिता नहीं होगी। अतः उसके अतिरिक्त उत्पादन की उपयोगिता तभी होगी कि जब वह उसको धन के बदले बेचे। अगर

किसान अपने अतिरिक्त उत्पादन को धन में बदल दे (अर्थात धन के बदले बेच दे) तभी उसके अतिरिक्त उत्पादन की कोई सार्थकता रहेगी। चूँकि उस किसान की उपभोग की सम्पूर्ण आवश्यकताएं पहले ही पूरी हो चुकी हैं अतः वह उस धन का उपयोग भी उपभोग की वस्तुएं खरीदने में नहीं करेगा बल्कि उस धन को इकट्ठा करके रखेगा।

अब अगर किसान हर वर्ष 2000 किलो अनाज पैदा करे और उसे हर साल अपना 1000 किलो अतिरिक्त उत्पादन धन में बदलना पड़े और वह उस धन को लगातार इकट्ठा करता चला जाए तो वह एक पूंजीवादी उत्पादक हुआ जिसका चरम उद्देश्य अपने अतिरिक्त उत्पादन को धन में बदलते रहना और उसको इकट्ठा करते रहना है। पूंजीवाद मूलतः यही व्यवस्था है। चलिए अब इसे थोड़ा और परिष्कृत रूप से समझने का प्रयास करते हैं।

पूंजीवाद का मूल तत्वः- अतिरिक्त उत्पादन का धन में लगातार परिवर्तन

पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन मूलतः फैक्ट्रियों में होता है जिसके मालिक उद्योगपति/पूंजीवादी होते हैं। अब हम उदाहरण के लिए कपड़े की एक फैक्ट्री को लेते हैं और यह मान लेते हैं कि वह फैक्ट्री प्रतिदिन 100000 मीटर कपड़े का उत्पादन करती है। हम यह भी मान लेते हैं कि कुल उत्पादन का 80 प्रतिशत (अर्थात 80000) मीटर मजदूरी इत्यादि के रूप में दे दिया जाता है और शेष 20000 मीटर कपड़ा मालिक का हिस्सा हुआ। उदाहरण को सरलता से समझने के लिए यह मान लेते हैं कि इस अर्थतंत्र में हर उद्योग अपने उत्पादन का 80 प्रतिशत हिस्सा श्रमिकों को उनकी मजदूरी के रूप में देता है और शेष 20 प्रतिशत हिस्सा मालिकों का होता है। उत्पादन का जो अंश (80 प्रतिशत) फैक्ट्री के श्रमिकों के पास गया वह बहुत से श्रमिकों में वितरित होता है, अतः प्रति श्रमिक अंश बहुत ज्यादा नहीं हुआ। प्रति श्रमिक के हिस्से में जितना कपड़ा आता है वह उसका विनिमय अन्य वस्तुओं का उत्पादन करने वाले श्रमिकों की मजदूरी (के रूप में मिलने वाली वस्तुओं/उत्पादों) से करेगा और अपने उपभोग की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। इसका मूल अर्थ यह है कि कुल उत्पादन का जो हिस्सा श्रमिकों को उनकी मजदूरी के रूप में दिया जाता है, वह पूरा का पूरा उनके उपभोग में काम आ जाता है और कुछ भी अतिरिक्त उत्पादन के रूप में शेष नहीं रहता।

परन्तु मिल/फैक्ट्री मालिकों (आर्थात उद्योगपतियों/पूंजीपतियों) का जो हिस्सा है (अर्थात उत्पादन का 20 प्रतिशत) वह एक उद्योगपति का हिस्सा होता है, अतः प्रति उद्योगपति का अंश प्रति श्रमिक के अंश से हजारों गुना ज्यादा होता है। अगर सारे उद्योगपति अपने-अपने हिस्से का एक दुसरे के साथ विनिमय कर लें तो प्रत्येक उद्योगपति को प्रति श्रमिक की तुलना में हजारों गुना ज्यादा वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग करना होगा। अब एक औसत उद्योगपति एक औसत श्रमिक की तुलना में वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग हजारों गुना ज्यादा तो कर नहीं सकता। अतः उद्योगपतियों का लगभग सम्पूर्ण अंश (उत्पादन का 20 प्रतिशत) उनके पास अतिरिक्त उत्पादन के रूप में होता है। जैसा कि ऊपर बताया गया कि अतिरिक्त उत्पादन की उपयोगिता तभी होगी जब वह धन (money) में बदल लिया जाय।

अब सवाल यह है कि उद्योगपति अपने हिस्से को धन के रूप में कैसे बदलेगा? पूंजीवादी व्यवस्था में क्रय-शक्ति का सृजन मूलतः श्रमिकों की मजदूरी से होता है और जैसा कि उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि श्रमिकों की मजदूरी से अतिरिक्त उत्पादन नहीं खरीदा जा सकता। अतः इस अतिरिक्त उत्पादन को पूंजीवादी तंत्र से बाहर के बाजार में ही बेचकर उसको धन में परिवर्तित किया जा सकता है। यह बाहर का बाजार क्या है? 18वीं शताब्दी के अंत में जब ब्रिटेन में पूंजीवाद का जन्म हुआ, उस समय ब्रिटेन के पास बाहर के बाजार के रूप में उसके

औपनिवेशिक बाजार थे और उन्ही औपनिवेशिक बाजारों में ब्रिटेन के पूंजीवादी उत्पादन तंत्र का अतिरिक्त उत्पादन धन (अर्थात् स्वर्ण) के बदले में बेचा जाता था। इसका तात्पर्य यह है कि अगर ब्रिटेन के पास पूंजीवादी उत्पादन के अतिरिक्त उत्पादन को खपाने के लिए औपनिवेशिक बाजार न होते तो पूंजीवाद अस्तित्व में ही ना आया होता। वास्तविकता यह यह कि पूंजीवाद का जन्म ही औपनिवेशिक बाजारों से धन चूसने के लिए हुआ था। शुरू-शुरू में पूंजीवादी व्यवस्था ब्रिटेन में ही आई क्योंकि ब्रिटेन के पास ही अतिरिक्त उत्पादन को खपाने के लिए औपनिवेशिक बाजार थे। फिर नेपोलियन के पतन के पश्चात धीरे-धीरे फ्रांस में भी पूंजीवादी व्यवस्था ने जड़ जमाई क्योंकि फ्रांस के पास भी अतिरिक्त उत्पादन को खपाने के लिए औपनिवेशिक बाजार थे। सन 1870 के आसपास तक पूंजीवाद सिर्फ ब्रिटेन और फ्रांस तक सिमटा रहा तत्पश्चात जर्मनी, इटली और जापान ने भी पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था को अपनाया। और जैसे ही इन देशो ने पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था को अपनाया वैसे ही ये देश एशिया और अफ्रिका में अपने अपने उपनिवेश बनाने में जुट गए क्योंकि यह स्पष्ट था कि उपनिवेशों के बाजार की उपलब्धता के बिना पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था सफल न हो पाती। इसमें एक मजेदार तथ्य यह है कि उस समय (सन 1870 के आसपास) रूस ने भी एकबार पूंजीवादी व्यवस्था को अपनाने को सोचा परन्तु रूस इसलिए पीछे हट गया क्योंकि रूस बहुत विशाल देश था और अगर रूस पूंजीवाद को अपनाता तो उसका अतिरिक्त उत्पादन बहुत ही ज्यादा होता और दुनिया में कोई भी उपनिवेश उसका अतिरिक्त उत्पादन खरीद पाने में असमर्थ होता। इसी विचार ने रूस को पूंजीवादी व्यवस्था अपनाने से रोका और रूस एक सामान्य परंपरागत अर्थव्यवस्था बना रहा।

उपरोक्त तथ्यों का तात्पर्य यह है कि पूंजीवादी उत्पादन तंत्र का मूल तत्व है अतिरिक्त उत्पादन का धन में लगातार परिवर्तन करते रहना। अगर उद्योगपति/पूंजीपति अपने अतिरिक्त उत्पादन का धन में परिवर्तन करने में असफल रहते हैं तो इसे ही हानि उठाना कहते हैं। अगर उद्योगपति लगातार हानि उठाने लगे (अर्थात् अपने अतिरिक्त उत्पादन को धन में परिवर्तन करने में असफल रहने लगे) तो वो हानि उठाकर उत्पादन करने के बजाय उत्पादन करना ही बंद करने लगते हैं और अगर यह क्रम ऐसे ही बना रहा तो पूंजीवादी उत्पादन तंत्र अंततः ध्वस्त हो जाता है। इसी अवस्था को मंदी या महामंदी कहते हैं। चूँकि अतिरिक्त उत्पादन के खपत का स्थान उपनिवेश थे, अतः यह स्पष्ट है कि पूंजीवादी व्यवस्था मूलतः एक धन चूषक यंत्र थी जो उपनिवेशों से धन चूसा करती थी। सम्पूर्ण पूंजीवादी व्यवस्था का अस्तित्व उपनिवेशों से धन चूसने पर ही निर्भर था।

अब उपनिवेशों के पास धन की मात्रा अनंत तो थी नहीं अतः पूंजीवादी व्यवस्था के द्वारा लगातार धन के शोषण के कारण उपनिवेश धीरे-धीरे गरीब होते गए[2] और उनके पास पूंजीवादी उत्पादन तंत्र के अतिरिक्त उत्पादन को क्रय करने की क्षमता धीरे धीरे क्षीण होती गयी और अंततः पूंजीवादी उत्पादन तंत्र 1930 के दशक की महामंदी के रूप में ध्वस्त हो गया। 1930 की महामंदी के पश्चात् पूंजीवाद को पुनः चलाने के लिए मुद्राओं के स्वर्णमान को त्याग दिया गया[3] जिससे कि पूंजीवादी देश बैंकिंग व्यवस्था के तहत असीमित मात्रा में धन का सृजन कर सकते थे। बैंकों द्वारा कर्ज के रूप में सृजित धन को पूंजीवादी राष्ट्रों की सरकारें घाटे की अर्थव्यवस्था को चलाने के लिए इस्तेमाल करने लगी। इस तरकीब का मूल उद्देश्य होता है पूंजीवादी अर्थतन्त्र की क्रय शक्ति को कृत्रिम रूप से बहुत ज्यादा बढ़ा देना। इस प्रकार कृत्रिम रूप से अर्थतंत्र की क्रय शक्ति बढ़ा लेने के कारण पूंजीवादी देश अपने अतिरिक्त उत्पादन की खपत अपने ही देश में करने लगे और इसके लिए उन्हें उपनिवेशों की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी। इस प्रकार जब पूंजीवादी अर्थतंत्र कृत्रिम रूप से बढ़ाई गयी क्रय शक्ति पर सफलतापूर्वक टिक गया तब

दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात उपनिवेशवाद लगभग एक झटके में ही समाप्त हो गया। तब से लेकर आज तक पूंजीवादी अर्थतंत्र इसी प्रकार कृत्रिम रूप से सृजित क्रय शक्ति पर टिका हुआ है।

पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ाया जाने वाला अर्थशास्त्र

अब हम अपने मुख्य विषय पर वापस आते हैं - आजकल के पाठ्यक्रम में पढ़ाया जाने वाला अर्थशास्त्र। हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि शिक्षण संस्थाओं में पढ़ाये जाने वाला अर्थशास्त्र में इन सब तथ्यों का जिक्र ही नहीं है। पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ाया जाने वाला अर्थशास्त्र मूलतः यह भ्रम फैलाने के लिए है कि पूंजीवादी व्यवस्था स्वावलम्बी और इसमें क्रय शक्ति कृत्रिम रूप से नहीं बढ़ाई जाती। अब हम यह जानते हैं कि इस प्रकार का असत्य और भ्रम क्यों फैलाया जा रहा है। इसके लिए हम क्लासिकल अर्थशास्त्र, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र और केयन्सियन अर्थशास्त्र को संक्षेप में समझेंगे।

क्लासिकल अर्थशास्त्र

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का उदय ब्रिटेन में हुआ था और यह व्यवस्था वहां के आम लोगों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध थोपी गयी गयी थी। चूँकि इस व्यवस्था के चलते वहां आम लोगों का आर्थिक शोषण बेतहाशा बढ़ गया था, इसीलिये जब ब्रिटेन में पूंजीवादी व्यवस्था का उदय हुआ तो उसका जनमानस में व्यापक विरोध था।[4] ब्रिटेन और यूरोप के बड़े बौद्धिक वर्ग में भी इसका अच्छा ख़ासा विरोध था। यूरोप के बौद्धिक वर्ग के द्वारा पूंजीवाद के विरोध की बहुत सी वजहों में एक मुख्य वजह थी पूंजीवादी उत्पादन तंत्र की औपनिवेशिक निर्यात पर निर्भरता। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि पूंजीवाद मूलतः उपनिवेशों से धन को चूसने का एक यंत्र था, यह तथ्य तत्कालीन यूरोप का बौद्धिक वर्ग अच्छी तरह समझ गया था। अतः इस वर्ग से यह बात उठने लगी कि पूंजीवादी उत्पादन तन्त्र स्वावलंबी नहीं है क्योंकि इसमें सकल मांग हमेशा ही सकल आपूर्ति (या उत्पादन) से कम होगी जिससे कि उत्पादक हमेशा घाटे में ही रहेंगे और इसलिए इस प्रकार की व्यवस्था का अस्तित्व उपनिवेशों को होने वाले निर्यात पर टिका था।[5] रॉबर्ट ओवेन, जीन चार्ल्स सिसमंडी, थॉमस माल्थस जैसे तत्कालीन यूरोप के बड़े बुद्धिजीवियों ने पूंजीवाद की इस खामी की तरफ ध्यान खींचा।[6] यह खामी पूंजीवाद की सबसे बड़ी खामियों में थी और उस समय पूंजीवाद के प्रचंड विरोध के माहौल में यह उस विरोध को और भी हवा देती। तब पूंजीवादी व्यवस्था ने इस खामी पर पर्दा डालने के लिए कुछ ऐसे बुद्धिजीवियों को खड़ा किया जिन्होंने पूंजीवादी तंत्र को एक स्वावलंबी अर्थतंत्र साबित करने का प्रयास किया। ऐसे बुद्धिजीवियों में जे बी से[7] और डेविड रिकार्डो[8] प्रमुख थे। जे बी से ने एक सिद्धांत (जिसको कुतर्क कहना ही बेहतर होगा) दिया कि वस्तुओं की आपूर्ति स्वयं उनकी मांग पैदा करती है।[9] तत्पश्चात डेविड रिकार्डो ने यह साबित करने का प्रयास किया कि पूंजीवादी तंत्र के अतिरिक्त उत्पादन का विनिमय दरअसल नई-नई फैक्टरियों और नई नई मशीने बनाने वाले उद्योगपतियों तथा उनके मजदूरों के साथ होता है जिससे कि एक तरफ पूंजीपतियों का अतिरिक्त उत्पादन खप जाता है वहीं दूसरी तरफ इन नई फैक्ट्रियों के कारण उद्योगपतियों की उत्पादन क्षमता भी बढ़ जाती है।[10] प्रचलित अर्थशास्त्र में इसे बचत-निवेश सिद्धांत कहा जाता है जिसमें पूंजीवादी उत्पादन तंत्र के अतिरिक्त उत्पादन को बचत कहा जाता था। वास्तविकता में देखा जाए तो यह एक तथ्यहीन और हास्यापद सिद्धांत है क्योंकि जब तक पूंजीवाद का अतिरिक्त उत्पादन धन में परिवर्तित न हो जाये, पूँजीपति को कोई धन-लाभ नहीं होने वाला

और जब तक उसे अपने मौजूदा उत्पादन से कोई धन-लाभ नहीं होता, वह नई फैक्ट्रियों में कोई निवेश नहीं करेगा। मूल रूप से बचत-निवेश सिद्धांत पूंजीवाद के असली स्वरूप (कि यह एक धन शोषण यंत्र है) से ध्यान भटकाने वाला एक कुतर्क मात्र है। जे बी से और डेविड रिकार्डो के इन्ही कुतर्कों पर आधारित अर्थशास्त्र को क्लासिकल इकोलॉमिक्स कहा जाता है।

लोगों को यह जानकार बहुत ही आश्चर्य होगा कि पूंजीवाद के तथाकथित सबसे बड़े विरोधी कार्ल मार्क्स ने भी डेविड रिकार्डो की तर्ज पर बहुत से कुतर्कों को गढ़ते हुए पूंजीवाद को एक स्वावलंबी अर्थतंत्र साबित करने में कोई कसर नहीं छोडी।[11] मार्क्सवाद के दर्शन का जो आर्थिक विश्लेषण वाला अंश है उसमें मार्क्स ने यह साबित करने का भरपूर प्रयास किया कि पूंजीवाद औपनिवेशिक निर्यात पर आधारित न होकर एक पूर्ण रूप से स्वावलंबी अर्थतंत्र है।

लेकिन रिकार्डो, से, मार्क्स और अन्यान्य कथित अर्थशास्त्री लाख कुतर्कों के बावजूद यूरोप के असली बुद्धिजीवी वर्ग के समक्ष पूंजीवाद को एक स्वावलंबी अर्थतंत्र साबित करने में विफल रहे क्योंकि उनके पास न तो तर्क थे और न ही तथ्य। इसके उपरांत पूंजीवादी व्यवस्था ने एक नई चाल चली, उसने ऐसे अर्थशास्त्रियों और विचारकों को, जो कि पूंजीवादी तंत्र को औपनिवेशिक निर्यात पर निर्भर मानते थे, मीडिया, शिक्षण संस्थानों और अन्य प्रकार की सार्वजानिक बहसों से अलग थलग करना शुरू कर दिया और धीरे धीरे ऐसे विचारको और उनके मत को दबाया जाने लगा। 1870 के दशक से पश्चिमी यूरोप में धीरे-धीरे पूंजीवाद के स्वावलंबी होने या न होने की बहस को सार्वजानिक विमर्श से गायब किया जाने लगा और उसकी जगह पूंजीवाद बनाम मार्क्सवाद की एक नई प्रकार की बहस प्रोत्साहित की जाने लगी।

नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र

लेकिन इन सबके बावजूद शिक्षण संस्थानों में जब तक तथाकथित अर्थशास्त्र पढ़ाया जाता था, जिसका मूल उद्देश्य येन-केन-प्रकारेण पूंजीवादी अर्थतन्त्र को स्वावलंबी साबित करना था, फिर भी लोगों का ध्यान उस बहस की ओर खिंच ही जाता था जिस बहस को पूंजीवादी तंत्र सार्वजनिक विमर्श से गायब करना चाहता था। तत्पश्चात शिक्षण संस्थानों में एक नए प्रकार का अर्थशास्त्र पढ़ाया जाने लगा जिसे कथित तौर पर नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र कहते हैं। नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र एक प्रकार से बौद्धिक विद्रूपता का उदाहरण ही है। नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र का मूल विमर्श इस विषय पर है ही नहीं कि पूंजीवादी अर्थतन्त्र सम्पूर्ण रूप में किस प्रकार से कार्य करता है, इसका मूल विमर्श यह है कि बाजार अर्थव्यवस्था में कोई एक एकाकी उपभोक्ता और एक एकाकी उत्पादक अपनी उपयोगिता और लाभ को किस तरह से अधिकतम कर सकते हैं।[12] फिर इस विमर्श को आगे बढ़ने के लिए बहुत सी अव्यवहारिक परिकल्पनाएं भी की गयी हैं। जहाँ तक पूंजीवादी अर्थतंत्र के स्वावलम्बी होने की बात है तो नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र में इसको साबित करने कि बजाय इसे पहले से मान लिया गया है। कुल मिला-जुला कर नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र एक बेहूदा बौद्धिक मजाक से ज्यादा कुछ और नहीं है इस विषय को पढ़ने वाले यह ही नहीं समझ पाते हैं कि वो आखिरकार क्या पढ़ रहे हैं और क्यों पढ़ रहे हैं।

केयन्सियन अर्थशास्त्र

ऊपर यह स्पष्ट किया गया है कि 1930 की महामंदी में पूंजीवाद क्यों ध्वस्त हो गया और फिर उसको उबारने के लिए क्या-क्या किया गया। वो विचारक तथा अर्थशास्त्री जो कि पूंजीवाद को स्वावलंबी तंत्र नहीं मानते थे। उन्होंने 1930 की महामंदी को उसके आने के बहुत ही पूर्व देख

लिया था। ऐसे अर्थशास्त्रियों में रोजा लक्जमबर्ग[13], सी एच डगलस[14], विलियम ट्रुफैंट फोस्टर[15] और वैडिल कैचिंग्स[16] प्रमुख रूप से विख्यात थे। इन विद्वानों ने महामंदी आने के पूर्व ही उसकी भविष्यवाणी कर दी थी और उससे निबटने के उपाय भी बता दिए थे! इन विद्वानों ने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को कृत्रिम रूप से चलाने के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय सुझाए थे।

महामंदी आने के उपरांत पूंजीवादी देशों ने अंततः जिस सुझाव को अपनाया, वह था सरकारों द्वारा घाटे की अर्थव्यवस्था को चलाते हुए अर्थव्यवस्था में कृत्रिम मांग पैदा करना। यह सुझाव मुख्य रूप से सुझाव अमेरिकी अर्थशात्री द्वय विलियम ट्रुफैंट फोस्टर[17] और वैडिल कैचिंग्स ने 1923-1928 के बीच अपनी लिखी पुस्तकों में दिया था। लेकिन यह आश्चर्य का विषय है कि अब उन अर्थशास्त्रियों को आज कोई जानता ही नहीं और महामंदी से उबारने का श्रेय ब्रिटिश अर्थशास्त्री जे एम केयेन्स को दिया जाता है। जे एम केयेन्स ने अपनी पुस्तक 1936 में प्रकाशित की जबकि 1936 तक तो महामंदी उन्ही उपायों को अपनाते हुए खात्मे कि तरफ अग्रसर थी जिन्हें जे एम केयेन्स ने अपनी पुस्तक में बताया है (जर्मनी में तो यह 1935 तक ही समाप्त हो चुकी थी)। फिर महामंदी को समाप्त करने का श्रेय जे एम केयेन्स को क्यों दिया जाता है विलियम ट्रुफैंट फोस्टर और वैडिल कैचिंग्स को क्यों नहीं जिन्होंने जे एम केयेन्स से कम से कम 8-10 वर्ष पूर्व यही सब उपाय बताये थे?

यह इसलिए किया गया था कि विलियम ट्रुफैंट फोस्टर और वैडिल कैचिंग्स उन अर्थशास्त्रियों में थे जो कि यह स्पष्ट तौर पर स्वीकारते थे कि पूंजीवाद स्वावलंबी तंत्र नहीं है और इसे कृत्रिम रूप से ही जीवित रखा जा सकता था। लेकिन अगर उनके इस तर्क को मान लिया जाता तो पश्चिमी (खासतौर पर ब्रिटिश) अकादमिक दुनिया की प्रतिष्ठा मटियामेट हो जाती, क्योंकि तब उन्हें यह मानने पर मजबूर हो जाना पड़ता कि पूंजीवादी अर्थतंत्र के बारे में जो वो पिछले 100 वर्षों से पढ़ा रहे थे वो गलत था। यह तर्क स्वीकार कर लेना कि पूंजीवादी अर्थतंत्र स्वावलंबी नहीं है,पश्चिमी आकदमिक दुनिया के लिए लगभग असंभव था। इसीलिए जे एम केयेन्स ने एक ऐसा सिद्धांत गढ़ा जिससे कि पश्चिमी आकदमिक दुनिया की प्रतिष्ठा भी बची रहे और पूंजीवाद को कृत्रिम रूप से जीवित रखने के लिए एक तर्क भी मिल जाए। केयेन्स ने सिद्धांत दिया कि सामान्य परिस्थितियों में पूंजीवाद एक स्वावलंबी अर्थतंत्र है जिसमें कि मांग और आपूर्ति में संतुलन बना रहता है। लेकिन कभी-कभी किन्ही विशेष परिस्थितियों में वह संतुलन टूट जाता है और सकल मांग सकल आपूर्ति से कम हो जाती है। और जब-जब भी ऐसा हो, सरकारों को अर्थतंत्र में दखलंदाजी करनी चाहिए और वित्तीय घाटा बढ़ाते हुए मांग और आपूर्ति का संतुलन स्थापित कर देना चाहिए।

मजेदार बात यह है कि केयेन्स ने इस बात की कोई भी तर्कसंगत व्याख्या नहीं दी कि तथाकथित सामान्य परिस्थितियों में आपूर्ति और मांग का संतुलन किस तरह बना रहता है और यह किन असामान्य परिस्थितियों में और क्यों टूट जाता है। उसने यह कह कर पल्ला झाड़ लिया कि इसके अनेक कारण हो सकते हैं और उन सब कारणों की व्याख्या करना संभव नहीं है।[18] लेकिन इसी ऊल-जुलूल तर्कबाजी के लिए केयेन्स को रातोंरात महान अर्थशास्त्री की उपाधि दे दी गयी क्योंकि इसने पश्चिमी आकदमिक दुनिया की प्रतिष्ठा बचाने में मदद की।

आजकल की पाठ्य-पुस्तको में पढ़ाये जाने वाले अर्थशास्त्र में इन्हीं तीनों प्रकार के अर्थशास्त्र का सम्मिश्रण है जिसमें लगभग 10 प्रतिशत अंश क्लासिकल अर्थशास्त्र, लगभग 10 प्रतिशत केयन्सियन अर्थशात्र और शेष नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र होता है। अब यह सलरता से समझा जा सकता है कि आजकल शिक्षण संस्थानों में अर्थशात्र के रूप में अनर्थशास्त्र ही पढ़ाया जा रहा

है। इसीलिए हर अर्थशास्त्री हमेशा भ्रमित ही बना रहता है।

बैंकिंग के बारे में असत्य और भ्रामक प्रचार

इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में एक और असत्य और भ्रामक प्रचार किया जाता है; वह है बैंकों को वित्तीय मध्यस्थ बताना।[1] हमें यह बताया जाता है कि बैंकों का मूल कार्य कुछ लोगों से धन इकट्ठा करके उस धन को कुछ दूसरे लोगों को कर्ज के रूप में देना होता है। बैंकों के बारे में यह अवधारणा दिन दहाड़े लोगों की आँखों में धूल झोंकने के सामान है। जबकि वास्तविकता में बैंक जो भी ऋण देते हैं, वे किसी का जमा किया हुआ धन ऋण के रूप में नहीं देते बल्कि धन का सृजन करके देते हैं। जो धन बैंक ऋण देने के दौरान सृजित करते हैं, वही धन बैंकों में जमा बनता है। अब बैंकिंग के बारे में पाठ्य-पुस्तकों में ऐसा असत्य और भ्रामक प्रचार क्यों किया जाता है और बैंकिंग का मूल स्वरूप क्या है उसकी इस छोटे से लेख में व्याख्या नहीं की सकती।

हमें अर्थशास्त्र को किस तरह पढ़ना चाहिए

स्पष्ट है कि हमें अर्थशास्त्र को उसको उसके सत्य स्वरूप में पढ़ना चाहिए। अर्थशात्र को अगर हम सत्य स्वरूप में समझेंगे तो हमें अर्थशात्र ही नहीं बल्कि इसके साथ-साथ बहुत सी अन्य ऐतिहासिक घटनाओं को भी सही स्वरूप में समझ सकेंगे। इससे हमें यह भी समझने में मदद मिलेगी कि आधुनिक विश्व पर्यावरण के विनाश सहित बहुत सी अन्य जिन समस्याओं से जूझ रहा है उसका कारण और निवारण क्या है।

संदर्भ

1. George Hoffman. p. 538. Market Economy: Economy in which fundamentals of supply and demand provide signals regarding resource utilization.
2. too obvious a fact
3. Well known fact
4. https://ieet.org/index.php/tpwiki/Luddism, J.L. and Barbara Hammond in The Village Labourer 1760–1832 (1911)
5.Political economy and philosophy of government; Jean Charles Sismondi (1819) Principle of Political Economy; Thomas Malthus (1820) On commercial crisis and the mortgage problem of landowners; Johann Karl Rodbertus (1859)
6. Ibid
7. A Treatise on Political Economy (1803) JB Say
8 On the Principles of Political Economy; David Ricardo (1817)
9. It is the famous law of J.B. Say i.e. Supply creates its own demand--A Treatise on Political Economy (1803) JB Say
10. Savings Investment Theory as propounded by David Ricardo in his famous book On the Principles of Political Economy (1817)
11. Capital Vol—II Part-III Chapters 19, 20, 21
12. https://en.wikipedia.org/wiki/Neoclassical_economics
13. Rosa Luxemburg; The Accumulation of Capital (1913)
14. C.H. Douglas; The Control and Distribution of Production (1920), Social Credit (1924)
15. WT Foster and Waddill Catchings; Money (1923), Profit (1925), Road to Plenty (1928)
16. Ibid
17. Ibid
18. J M Keynes; The General Theory of Employment, Interest and Money (1936)
19. It is too well known a matter

MHM

शिक्षा की स्वतन्त्रता

वैद्य गुरुदत्त*

* लेखक भारतीय संस्कृति के उद्भट विद्वान हैं और यह अंश उनकी पुस्तक 'स्व-अस्तित्व की रक्षा, भाग-1 के शिक्षा अध्याय से लिया गया है।

मनुष्य शरीर में एक अंग है मन। यह स्मृति यन्त्र होने के साथ साथ कल्पना और मनन का भी स्थान है। ये कल्पना और मनन मन की स्मरण शक्ति के ही कारण है। सांख्य दर्शन में कहा है कि यह (महत) का प्रथम कार्य है। अभिप्राय यह है कि यह महत् प्रकृति का वह रुप है जब इसके परमाणु जाग्रत अवस्था में हो जाते हैं। प्रलय काल में प्रकृति के परमाणु एक-दूसरे से पृथक-पृथक और परस्पर प्रभावरहित होते हैं।

यह माना जाता है कि प्रकृति का प्रत्येक परमाणु तीन प्रकार की शक्तियों की संतुलित इकाई होती है। परमाणु के जाग्रत होने का अर्थ है तीनों शक्तियाँ परस्पर संतुलित न रहकर बहिर्मुख हो जाती है। यह महत् का स्वरूप है। असंख्य परमाणु है और प्रत्येक अपनी शक्ति का मुख बाहर को कर अन्य परमाणुओं को प्रभावित करने लगता है। तब परमाणु संयुक्त होने लगते हैं और एक से अधिक के योग बन जाते हैं। इन संयोगों में एक मन रूप परमाणुओं का संयोग बन जाता है और जब प्राणी का शरीर बनता है तो एक ऐसा संयोग प्रत्येक प्राणी को मिल जाता है। यह मन होता है। इस पर आवेश होता है और उस आवेश के कारण उसमें मन के प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती है। उनमें स्मरण, मनन, संकल्प, विकल्प का सामर्थ्य आ जाता है। इस प्रकार के कर्मो की सामर्थ्य के कारण ही मन में चंचलता अनुभव होती है। आत्मा को इस प्रकार का योग्य कार्यकर्ता मिलने पर यह अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए इसके द्वारा संकल्प-विकल्प करने लगता है।

मन पर नियन्त्रण रखने वाला भी एक यंत्र मनुष्य को मिला होता है। उसे बुद्धि कहते हैं। बुद्धि मन के संकल्प-विकल्पों को नियन्त्रण में रखने का कार्य करती है। मन जीवात्मा की इच्छाओं की पूर्ति के लिए कल्पनायें अर्थात् योजनायें बनाता है और बुद्धि उन योजनाओं को धर्म-अधर्म की दृष्टि में जाँच-पड़ताल करती है। और वह जीवात्मा को सम्मति देती है कि मन की अमुक कल्पना धर्मानुकूल है और अमुक कल्पना अधर्मयुक्त है।

कभी तो जीवात्मा मान जाता है। कभी वह मन के संकल्प-विकल्प को अमान्य भी कर देता है। कभी जीवात्मा की इच्छा अर्थात कामना इतनी प्रबल होती है कि वह बुद्धि की सम्मति को अस्वीकार कर मन के संकल्प के पीछे चल पड़ता है। शरीर की इन्द्रियों को आज्ञा हो जाती है कि मन की सम्मति पर कार्य करें।

समाज व्यक्तियों के समूह को कहते हैं। जब यह समूह मिल-जुलकर कार्य करने लगे तो ऐसे अवसर भी आते हैं, जब अज्ञानता के विस्तार से समाज में अधिकांश लोग मन के संकल्पों के पीछे भाग खड़े होते हैं।

एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। वर्तमान युग में मदिरा का प्रयोग बढ़ रहा है। यद्यपि बहुत ही प्राचीन काल से इसका प्रयोग प्रचलित रहा है। परन्तु इसकी मात्रा बहुत न्यून थी। अधिक प्राचीन काल की बात हम नहीं करते। आज से 50-60 वर्ष पूर्व की ही बात है। हम एक मोहल्ले में रहते थे। उस मोहल्ले में लगभग दो सौ परिवार रहते थे। उन दो सौ परिवारों में प्रत्यक्ष रूप में एक परिवार का एक ही घटक ऐसा दिखाई दिया था जो मद्यपान करता था। वह कभी-कभी पीकर झूमता हुआ मोहल्ले में लड़ाई- झगड़ा करता भी देखा जाता था। नगर भर में एक-दो दुकानें ही होती थीं जहाँ वह बोतलों में बिका करती थी। खुली बिक्री वाली शराब की दुकान की ओर लोग जाना भी पसन्द नहीं करते थे।

उस समय फ्रांस की प्रसिद्ध शैम्पेन की बोतल 5-6 रुपयों में मिल जाया करती थी। तदपि मद्यपान करने वालों की संख्या नगण्य ही हुआ करती थी। धीरे-धीरे समाज के घटकों में बुद्धि का नियन्त्रण ढीला होने से अब नगर के किसी भी मोहल्ले में शराब की दुकान एक अनिवार्यता हो गई है। राज्य ने शराब पर टैक्स बढ़ा दिया है। प्रत्येक दुकान प्रति वर्ष लाखों रुपया टैक्स देती है। इस पर भी शराब का दुकानदार दिन-प्रति-दिन उन्नति कर रहा है। अर्थात् उसका धन निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। भारत का कोई भी प्रदेश ऐसा नहीं है जो कि शराब की बिक्री से होने वाली आय को छोड़ने की बात सोचता हो। स्वराज्य मिलने पर तो शराब का प्रचार कम हुआ था परन्तु कुछ कालोपरान्त पीने वाले और उत्पादकों के सम्मिलित प्रयास का यह परिणाम हुआ कि अब करोड़ों रुपयों की शराब बिकने लगी है। सरकारी टैक्स के आधिक्य के कारण अनियमित शराब का उत्पादन भी होता है और वह भी खूब बिकती है। उसको पीने से प्रति वर्ष सैकड़ों लोग मृत्यु का ग्रास भी बनते हैं। यह सब होने पर भी शराब का प्रचलन दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही जा रहा है।

यदि इसका विश्लेषण किया जए तो पता चलेगा कि इसके पान से पीने वाले को क्षणिक आनन्द की उपलब्धि होती है। किन्तु उस आनन्द से जीवन का ह्रास भी होता है। मद्यपान करने वाले की बुद्धि न केवल क्षीण होने लगती है अपितु वह मलिन भी हो जाती है। परन्तु उस आनन्द के मोह में पीने वाला मन बुद्धि और आयु का ह्रास सहर्ष स्वीकार कर पान करता जाता है। इस प्रकार दिनानुदिन इसका प्रयोग बढ़ता ही जा रहा है। विद्वानों का कथन है कि मद्यपान करने से बुद्धि, आयु और बल का ह्रास होता है। परन्तु राज्याधिकारी कहते हैं कि इससे करोड़ों रुपयों का राजस्व प्राप्त होता है। अब कुछ ऐसे भी लोग सम्मुख आने लगे हैं जो मद्यपान को व्यक्तिगत प्रश्न कहकर उसकी स्वतन्त्रता के नाम पर छूट चाहने लगे हैं। ये सब आनन्द-प्राप्ति के बहाने मात्र हैं। कतिपय मद्यपान करने वालों की इच्छा इतनी प्रबल हो जाती है कि वे बुद्धि की चेतावनी की अवहेलना कर जाते हैं। मन की कल्पना, जो जीवात्मा की सुख की इच्छा के समर्थन में प्रस्तुत होती है, को जीवात्मा की स्वीकृति मिल जाती है और पूर्ण समाज विकृत होकर विनाश की ओर उन्मुख हो रहा है।

इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण लिया जा सकता है। कुछ वर्ष पूर्व देश का प्रशासन सिनेमा इत्यादि में अश्लीलता पर प्रतिबन्ध लगाने के विषय पर कानून बनाने का विचार करने लगा था। इस विषय पर दिल्ली में देश के लेखकों की एक बैठक बुलाई गई। उसमें हमें भी जाने का अवसर प्राप्त हुआ। हमारे अतिरिक्त उन उपस्थित लेखकों में से कोई एक भी ऐसा नहीं था जो इस प्रकार के किसी कानून के पक्ष में हो। अत्यधिक विवाद के उपरान्त यह प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ कि लेखकों, सिनेमा निर्देशकों तथा प्रकाशकों के प्रतिनिधियों का एक बोर्ड बनाया जाय जो सरकार को इस विषय पर परामर्श दे कि अमुक पुस्तक, लेख अथवा कहानी अश्लील है। उस अवसर पर हमने सुझाव दिया था कि उस बोर्ड में नियुक्त किये जाने वाले सदस्यों की योग्यता का भी कोई मापदण्ड निर्धारित किया जाना चाहिए। उस मापदण्ड में सदस्य का सन्तानयुक्त होना, उसका भारतीय आचार-संहिता का ज्ञाता होना आदि बातें अनिवार्य मानी जायें। हमने अनुभव किया कि मन-ही-मन इस सुझाव की अवहेलना की जा रही है और उसका परिणाम यह हुआ कि सदस्य की योग्यता का कोई मापदण्ड निर्धारित नहीं किया जा सका। वस्तुस्थिति यह है कि किसी व्यवहार विशेष से सुख अथवा आनन्द की प्राप्ति होती है। जीवात्मा सुख की प्राप्ति की प्रबल कामना करता है। वह बुद्धि की चेतावनी की अवहेलना करके मन को आज्ञा दे देता है कि अमुक बात लिखो, अमुक प्रकार का अभिनय करो, अमुक नृत्य मुद्रा का प्रदर्शन करो। जब बुद्धि की चेतावनी की अवहेलना की जाती है तो मन की चंचलता को उच्छृंखलता करने का अवसर सुलभ हो जाता है। अतः जातीय उत्थान के लिए हमारी दृष्टि में प्रथम पग है बुद्धि को इतना बलवान बनाया जाए कि वह आत्मा की कामनाओं को उचित दिशा देने में समर्थ हो। इसके साथ ही आत्मा के स्वभाव को बदला जाय जिससे वह इच्छाओं और कामनाओं में बह न सके।

यह शिक्षा का विषय है। पाठशालाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों में इस प्रकार की शिक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए। दो शब्द शिक्षा के सम्बन्ध में भी कह देना हम उपयुक्त समझते हैं। शिक्षा वास्तव में जीवात्मा का स्वभाव बनाने, मन को शिव संकल्प करने, और बुद्धि को सुदृढ़ करने का नाम है। इनके साथ इन्द्रियों को मन और बुद्धि के अधीन कार्य करने का अभ्यास करने का नाम है। भाषा, इतिहास, भूगोल, गणित इत्यादि विषय उक्त अवयवों को सन्मार्ग पर चलाने में सहायता देने के लिए होते हैं। स्वतः ये शिक्षा में किसी प्रकार का योगदान नहीं करते।

ज्ञान- विज्ञान मन, बुद्धि और जीवात्मा को ठीक मार्ग पर ले जाने में सहायक तो हो सकता है। परन्तु यथार्थ ज्ञान और विज्ञान से तकनीकी शिक्षा ज्ञान- विज्ञान नहीं कहाती। तकनीकी शिक्षा वास्तव में ज्ञान से पेशा करना है, जैसे किसी स्त्री से वेश्यावृति कराना। स्त्री कर्म उचित उद्देश्य से भी होता है परन्तु यही कर्म वेश्यावृति भी हो सकता है, जब इसके वास्तविक प्रयोग को छोड़कर इसे धनोपार्जन का साधन बना लिया जाय। यही बात ज्ञान-विज्ञान में तकनीकी ज्ञान की है। ज्ञान -विज्ञान का धर्मयुक्त प्रयोग भी है। परन्तु जब वासना तृप्ति के लिए इस ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति का प्रयोग किया जाये तो यह वेश्यावृति के समान हो जाता है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि तकनीकी उन्नति जीवन को सुखमय बनाने के लिए वेश्यावृति है। परन्तु यदि जीवन के धर्मयुक्त कार्यो में सहायता के लिए इसका प्रयोग किया जाय तो यह सती साध्वी महिला के व्यवहार के समान हो जायगा। जब हम शिक्षा में ज्ञान-विज्ञान के योगदान की बात करते हैं तो उससे हमारा यही अभिप्राय होता है कि प्राणियों, वस्तुओं और प्राकृतिक शक्तियों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जाय और उस ज्ञान का उपयोग जीवन की आवश्यकताओं को ब्यवहार में लाने के लिए हो।

यह किस प्रकार सम्भव होगा। इसका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे। यहाँ तो हम यह बता रहे हैं कि मन शिव संकल्प करने वाला हो, बुद्धि को प्रबल युक्ति करने के योग्य बनाने से और जीवात्मा का विवेकपूर्ण स्वभाव बनाने से मन की चंचलता को स्थिर बनाया जा सकता है। साहित्य, कला और व्यवहार सब शिक्षा के अनुरूप होनी चाहिए। यह प्रथम जातीय कार्य है जिससे स्व अस्तित्व की रक्षा हो सकती है।

यह कौन करे, कहाँ करे और किस प्रकार करे? इसके लिए सर्वप्रथम कार्य है शिक्षक को तैयार करना।

इसी में मन्दिरों, सभा-स्थानों, कथा-कीर्तनों, धर्म-उपदेशों, तीर्थाटनों और ऐतिहासिक स्थानों के दर्शन तथा जातीय महापुरुषों के जीवन चरित्रों तथा उनके मतों के मानने अथवा न मानने का उपयोग है।

हिन्दू समाज को उसकी वर्तमान पतितावस्था से निकालने के लिए प्रथम कर्म है, इसके धार्मिक स्थानों, धार्मिक पर्वों, जातीय महापुरुषों की कृतियों और लेखों तथा उनके जीवन से सम्बन्धित स्थानों का पुनरुद्धार करना।

देश की वर्तमान अवस्था ऐसी हो गई है कि हम कोई भी व्यक्तिगत अथवा जातीय कार्य बिना राज्य की स्वीकृति के कर ही नहीं सकते। यही कारण है कि विराट हिन्दू सम्मेलन के अध्यक्ष को भारत सरकार के सम्मुख यह याचना करनी पड़ रही है कि हिन्दुओं के जातीय एवं धार्मिक पर्वों के सरकारी अवकाश के दिनों मे वृद्धि की जाय। किन्तु सरकार सैक्युलर होने के साथ-साथ दुकानदार, ठेकेदार और व्यापार वृत्ति वाली भी है। जब वह वर्ष में अवकाश के दिन न्यूनाधिक करती है तो, जब हिन्दुओं को जन्माष्टमी का अवकाश दिया जाता है तो उसकी ही भाँति मुसलमानों, ईसाइयों, पारसियों, बौद्धों, जैनों आदि-आदि के किस पर्व पर अवकाश में वृद्धि की जा सकती है, वह यह भी विचार करने लगती है।

सरकार तो अपने कर्मचारियों के एक-एक घण्टे के अवकाश के विषय में भी विचार करती है कि इससे कितनी आर्थिक हानि होने की सम्भावना है। सरकार यह भी अनुभव करती है कि जातीय जीवन में एक भी अवकाश का दिन बढ़ाने पर राष्ट्रीय आय में कितनी कमी होगी अथवा सरकार इस बात का विचार करने और निर्णय लेने में एक सौ एक बाधाएँ देखती है। कारण स्पष्ट है कि सरकार एक दुकानदार, भिन्न-भिन्न समाजों की पत्नी, और सबसे बड़ी बात यह है कि पत्नी बने रहने की लालसा में जोड़-तोड़ लगाने वाली चतुर नारी का रुप ग्रहण कर चुकी है।

वस्तुत. प्रजातान्त्रिक सरकार तो वेश्या के सामान ही होती है। ऐसी प्रजातान्त्रिक सरकार पर उस पति का आतंक होता है जो सार्वधिक आक्रांत और उत्पात मचाने की क्षमता रखता है। यह वर्तमान प्रजातान्त्रिक पद्धति का स्वरुप है। वास्तव में यह होना चाहिए कि जातीय निर्माण-कार्यो को इस प्रजातान्त्रिक सैक्युलर और दुकानदार सरकार से स्वतन्त्र किया जाये। अमुक जातीय पर्व के दिन सरकारी कार्य चलेगा अथवा नही, इसका निर्णय यह वेश्या सरकार नहीं कर सकती। इसका निर्णय करने का अधिकार जातीय, धार्मिक एवं बौद्धिक नेताओं को दिया जाना चाहिए। उनके निर्णय से सरकार को यदि किसी प्रकार की असुविधा हो तो सरकार को चाहिए कि वह उन नेताओं से सम्पर्क स्थापित कर अपनी असुविधा बखान करे और उसे दूर करने का निवेदन करे न कि विराट हिन्दू समाज के नेता सरकार से आग्रह करें।

जातीय निर्माण-कार्य राजनीतिक कार्य नहीं है। हम जाति के हिताहित को सैक्युलर, व्यापारी, दुकानदार, कारखानेदार अथवा मूर्खो, अनपढ़ों के मतों की भिक्षा माँगने वालों के हाथों में सौंपना

उचित नहीं समझते।

जातीय निर्माण के कार्यों में हमने अभी तक मन, बुद्धि और जीवात्मा के सुशिक्षित कर्मो का ही कथन किया है। उनको ठीक दिशा देने के लिए हम ऐसी सामाजिक संस्था का हस्तक्षेप चाहते हैं जो स्वयं धर्मनिरपेक्ष, सबसे बड़ी सेवकों की स्वामी, सबसे अधिक धनोपार्जन का संयन्त्र और अनपढ़, सामान्य बुद्धि,आचार-विचार के लोगों के मत से प्रभावित न हो।

इसका अर्थ यह है कि शिक्षा, धर्मस्थान, तीर्थस्थान, समाजों और जातीय धर्मिक पर्वो का प्रबन्ध विद्वानों के अधीन होना चाहिए। हम इनका प्रबन्ध गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी की भाँति नहीं चाहते। यह सम्भव भी नहीं है। उसका कारण यह है कि हम हिन्दू समाज को जागृत करने का उपाय बता रहे हैं। हिन्दू समाज में किसी एक सम्प्रदाय के लिए यह प्रयास नहीं कर रहे हैं। हिन्दू सम्प्रदाय में अनेक मत-मतान्तर हैं।

जो आवश्यक है वह यह है कि हिन्दू समाज की साँझी मान्यताओं का विरोध कहीं न हो। उसके समर्थन के साथ अपने-अपने इष्टदेव तथा सम्प्रदाय की बात भी होती रहे। हिन्दूओं के सब सम्प्रदाय वेदमूलक हैं। इस कारण उनका विरोध नहीं हो सकता। हमारा निश्चित मत है कि मन, बुद्धि और आत्मा सम्बन्धी शिक्षा पूर्णरुप से देश के राज्य से असम्बद्ध होनी चाहिए।

MHM

प्राचीन भारत की शिक्षा व्यवस्था का समग्र निरूपण

[कृतिः द एजूकेशनल सिस्टम ऑफ द एंशिएंट हिंदूज]

इष्ट देव सांकृत्यायन*

* लेखक एक वरिष्ठ पत्रकार हैं।

प्राचीन भारत की शिक्षा व्यवस्था को लेकर पिछली तीन-चार शताब्दियों में भ्रांतियां फैलाने का काम विधिवत अभियान चला कर किया गया है। विदेशों से आकर भारतभूमि पर कब्जा जमाने वाले शासकों के निर्देशों पर इस अभियान के लिए पहले तो निराधार झूठ के पुलिंदे तैयार किए गए और फिर उन्हें पूरी दुनिया में प्रचारित करने और जन-जन के मन में बैठा देने के लिए सभी संभव षड्यंत्र किए गए। इस कार्य में केवल शासकों के साथ आए उनके कारिंदे ही नहीं, देसी भृत्य भी शामिल हुए। बुद्धिजीविता के नाम पर एक बड़ा वर्ग आज भी यही कर रहा है। ज्ञानजगत का दुर्भाग्य यह है कि वे अपने निराधार झूठ को केवल कट-पेस्ट के पल्लवग्राही पांडित्य से हठपूर्वक स्थापित करने पर तुले रहते हैं, अभिलेखीय और जीवंत साक्ष्यों के प्रति बलपूर्वक आँखें मूँदे रहकर सत्य को अस्वीकार करते हुए। लेकिन वास्तव में प्राचीनकाल में भारतवर्ष की शिक्षा-व्यवस्था कैसी थी, वह किस तरह राज्य से सहायता-प्राप्त होते हुए भी कितनी स्वायत्त थी, व्यापक समाज की उसमें कितनी और किस तरह की भागीदारी थी तथा किस तरह उसमें सभी के लिए समान अवसर एवं संभावनाएं थीं, इस विषय पर वस्तुनिष्ठ काम करने वाले लोग बहुत कम हुए हैं।

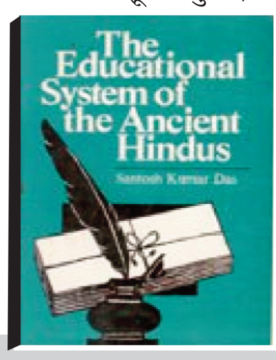

आज के भारत की राजनीतिक सीमाओं के भीतर देखें तो इस पर गंभीरता से अनुसंधान करने वाले सबसे प्रमुख विद्वान डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी रहे हैं। अपनी कृति 'एंशिएंट इंडियन एजूकेशनः ब्रह्मनिकल एंड बुद्धिस्ट' में डॉ. मुखर्जी ने वैदिक और बौद्धकालीन समाज में भारत की शिक्षा-व्यवस्था को पूरी ईमानदारी और गहराई से देखने का प्रयास किया है। उनकी यह पुस्तक 1947

में प्रकाशित हुई। राजनीतिक सीमाओं की बात छोड़ दें तो भू-सांस्कृतिक दृष्टि से बृहत्तर भारत के ही अंग रहे नेपाल में इस विषय पर संतोष कुमार दास ने गंभीर अनुसंधान किया। श्री दास नेपाल में काठमांडौ स्थित त्रिचंद्र कॉलेज में इतिहास एवं अर्थशास्त्र के आचार्य थे। यद्यपि इस विषय पर उनकी महत्वपूर्ण कृति 'द एजूकेशनल सिस्टम ऑफ द एंशिएंट हिंदूज' 1930 में ही प्रकाशित हो चुकी थी, लेकिन आमुख में उन्होंने डॉ. मुखर्जी के प्रति आभारज्ञापन किया है। जिन अन्य विद्वानों के प्रति प्रो. दास ने अपने इस दुष्कर अनुसंधान सहयोग एवं दिशानिर्देशन के लिए आभार व्यक्त किया है, वे हैं- रेव. एफ.ई. के, प्रो. एस.वी. वेंकटेश्वर एवं प्रो. नगेंद्र नाथ मजूमदार।

अपनी इस कृति में प्रो. दास प्राचीन भारत के नृजातीय, भौगोलिक और सामाजिक पक्षों के विवरण देते हुए कहते हैं, 'हिंदू समाज की मुख्य विशिष्टता उसकी जाति व्यवस्था है। यह एक मानी हुई बात है कि ऋग्वेदिक समाज में जाति व्यवस्था कोई विकसित अवस्था में नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपमें एक साथ पुरोहित भी था, योद्धा भी और किसान भी। इसके बावजूद हर व्यक्ति अपनी-अपनी अभिरुचिअ के अनुसार किसी न किसी एक कार्य में अधिक दक्षता हासिल करता गया और यह समाज के विकास के साथ-साथ उसकी आवश्यकता भी बनती गई। प्राचीन हिंदू अपने पूरे समाज को एक समग्र जैविक इकाई के रूप में देखने का अभ्यस्त था और इस समाज का प्रत्येक अपनी मूलभूत अभिरुचि, प्रवृत्ति या क्षमता के अनुसार अपने लिए वह कार्य चुनने को स्वतंत्र था जो उसके लिए सबसे उपयुक्त था। धीरे-धीरे यही चार वर्णों में विभक्त हो गया और बाद में उनके बच्चे भी वही काम अपनाने लगे, क्योंकि आनुवंशिकता इसमें सहयोगी थी।' (पृष्ठ 5) लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि किसी वर्ण के लोगों को कोई दूसरा कर्म चुनने पर कोई प्रतिबंध जैसा कुछ था। यह वैदिककाल ही नहीं, उसके बहुत बाद भी, महाकाव्य काल तक देखा जाता है। इसी क्रम में वह महाभारत के वनपर्व का एक श्लोक उद्धृत करते हैं,

'शृणु यक्ष कुलम् तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणम् हि द्विजत्वे च बृत्तमेब न संशयः॥'

(हे यक्ष, ब्राह्मणत्व का निर्णय तो केवल कर्म से होता है। कुल-गोत्र और यहाँ तक कि पवित्र ग्रंथों या वेदों का अध्ययन भी इसका निर्णायक नहीं हो सकता।)

साथ ही, गुरुकुलों में इस बात का भी पूरा खयाल रखा जाता था कि किसे किस विषय की शिक्षा दी जाए। यह किसी के चाहने, उसके अधिकार संपन्नता या आर्थिक प्रभाव में नहीं, केवल व्यक्ति की पात्रता पर निर्भर होता था। पात्रता की इस परिभाषा में विद्या प्राप्त करने के व्यक्ति के उद्देश्य के साथ-साथ चरित्र, आचरण और अभिरुचि का मानदंड भी शामिल होता था। कुपात्र को विद्यादान से बेहतर समझा जाता था विद्या को नष्ट हो जाने देना। इस संदर्भ में वे छांदोग्य ब्राह्मण का एक श्लोक उद्धृत करते हैंः

'विद्या शार्धम मृतेय न विद्या मुषरे बपेत्' (पृष्ठ 7)

शिक्षा का धार्मिक पक्ष कर्मकांड तक सीमित नहीं था। इसमें यज्ञ और उसके रीति-रिवाज के अलावा मिथकीय कथाएं, लोकश्रुतियां, अनुमान और तर्कशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, शब्द विज्ञान, दर्शनशास्त्र और विधि जैसे विषय भी शामिल होते थे। परंपरा के अनुसार इसके अंतर्गत छह विषय शामिल थे- शिक्षा, छंद, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। (पृष्ठ 15) इन सबके समुचित अध्ययन के बाद ही यहाँ कोई कर्मकांड अर्थात् यज्ञ में भूमिका निभाने का अधिकारी होता था। यज्ञ यहाँ केवल निर्जीव या अंधविश्वास पोसने वाला कर्मकांड नहीं था। कई विद्याएं तो यज्ञ से ही उत्पन्न हुईं। यथा यज्ञ के लिए शुभ मुहूर्त चुनने की आवश्यकता ने

ज्योतिष को जन्म दिया और इसी से आया नक्षत्र-शास्त्र। इसी प्रकार यज्ञ में बलि के लिए प्रयुक्त पशुओं के विच्छेदन से शरीर-रचना-विज्ञान आया। वेदों पर विमर्श से अरण्यक और अरण्यकों पर गहन विमर्श से उपनिषद आए और इन विमर्शों का ही परिणाम है तर्कशास्त्र। धर्म के रूढ़ दुनियावी अर्थ में देखें तो और कौन है जो तर्क का स्वागत करता है!

शिक्षा प्राचीन भारत के आरंभिक दौर में गृहकेंद्रित थी। यह सभ्यता का आदिबिंदु था। समाज शायद जन्म लेने की प्रक्रिया में ही था। ऐसी दशा में और हो भी क्या सकता था! इसमें माता-पिता ही अपना ज्ञान और अपनी दक्षता धीरे-धीरे अपनी संतानों को सौंप देते थे। बाद में इसने थोड़ा औपचारिक रूप ग्रहण किया। शिक्षा प्रदान करने के लिए कदाचित अलग तरह की दक्षता की आवश्यकता समझी जाने लगी और इस तरह गुरुकुल अस्तित्व में आए। फिर इनके साथ कुछ संस्कार भी जुड़े, जैसे उपनयन। उपनयन का अर्थ ही है - पास ले जाना। माता-पिता बच्चों को किसी शिक्षक के पास ले जाते थे और इसी को कुछ विशिष्ट प्रतिज्ञाओं के साथ जोड़कर एक संस्कार का रूप दिया गया। शिक्षा की इस प्रक्रिया में तीन उद्देश्य सन्निहित होते थे- ज्ञान का अर्जन, व्यक्तित्व में सामाजिक दायित्वों एवं धार्मिक संस्कारों का निगड़न तथा चरित्र का निर्माण। (पृष्ठ 19)

वेद के अध्ययन को तकनीकी तौर पर स्वाध्याय कहा गया और यह भी तीन वेदों - ऋग, यजु और साम के रूप में त्रिआयामी था। हिंदुओं ने वेदों के अलावा भी ज्ञान की कई विधाएं सृजित कीं। इसमें व्याकरण, ध्वनि विज्ञान, टीकाशास्त्र, छंदशास्त्र, तर्कशास्त्र, दर्शन आदि अपने विभिन्न अंग-उपांगों सहित केवल धार्मिक और पंथनिरपेक्ष साहित्य ही नहीं शामिल था; इतिहास, अर्थशास्त्र, दंडनीति, धनुर्वेद, नक्षत्रविज्ञान, विधि, चिकित्साशास्त्र, यंत्र और ललित कलाएं आदि सभी तरह की विद्याएं सम्मिलित हैं। परीक्षा की विधि भी आज की तरह सामान्यीकृत और मशीनी नहीं, व्यावहारिक उपयोग में दक्षता आधारित और उसमें नैतिक प्रतिबद्धता केंद्रित होती थी। (पृष्ठ 21)

'प्राचीन भारत में गृह शिक्षा और शिशु' पर केंद्रित इस शोधकृति का चौथा अध्याय किसी शिशु के जन्म से लेकर उसके किसी गुरुकुल में जाने तक की प्रक्रिया तक के सभी चरणों पर बात करता है। सभी संस्कारों की महत्ता पर बात करते हुए व्यक्ति शिक्षा की प्रक्रिया में माता को सबसे अधिक महत्व देता है। माँ ही एक ऐसी गुरु है जिसके द्वारा किसी व्यक्ति को शिक्षा दिए जाने की प्रक्रिया गर्भधारण से लेकर जीवनपर्यंत चलती रहती है। किसी के व्यक्तित्व निर्माण में माँ की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका की कितनी समझ प्राचीन भारतीय समाज को थी, यह इस अध्याय से पता चलता है। शैशवावस्था में व्यक्ति की आदतों का निर्माण माँ ही करती है और किसी की बचपन की आदतों की बुनियाद पर ही उसका पूरा जीवन खड़ा होता है। (पृष्ठ 29)

आज के अर्थ में देखें तो प्राचीन भारत में आधुनिक दौर के प्राइमरी स्कूल जैसा तो कुछ था नहीं। सूत्रों में शिक्षण के क्रमिक रूप से अलग-अलग चरणों में विभिन्न पाठ्यक्रमों का भी कोई वर्णन नहीं मिलता है। लेकिन आगे हम ज्ञान की विभिन्न विधाओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिए पात्रता के अलग-अलग मानदंड देखते हैं। यथा - न्याय और तर्कशास्त्र का विद्यार्थी बनने के लिए साहित्य, व्याकरण और शब्दविज्ञान में दक्षता आवश्यक थी। इसी तरह वेदांत के अध्ययन के लिए वेदांग और वैदिक ऋचाओं का ज्ञान अनिवार्य था। शिशु के अक्षरारंभ के लिए ज्योतिष तो तीन वर्ष की आयु में अनुमति दे देता है, लेकिन चरक संहिता और विष्णु पुराण इसके लिए पाँच वर्ष की न्यूनतम आयु सुनिश्चित करते हैं। इस क्रम में प्राथमिक शिक्षा संबंधी अध्याय कल्हण की राजतरंगिणी का भी उल्लेख करता है। प्रो. दास इसी क्रम में नार्कोस और कर्टिअस आदि ग्रीक लेखकों का भी जिक्र करते हैं, जो लिखते हैं कि प्राचीन भारत के लोग कपड़ों और पेड़ों की छालों

पर पत्र लिखा करते थे। ये दोनों ही लेखक चौथी शताब्दी ई.पू. के हैं। इसमें 450 ई.पू. के एक बौद्ध शिलालेख का भी वर्णन है। इस शिलालेख में बच्चों के खेलों का उल्लेख है और इनमें एक खेल अक्खरिका (अक्षरज्ञान आधारित) भी है। जातककथाएं उसी समय प्राथमिक शालाएं होने के संकेत देती हैं और यह भी कि उनमें किसी के लिए प्रवेश या अध्ययन की वर्जना जैसी कोई बात नहीं थी। (पृष्ठ 33-39)

ज्यादातर प्रमाण इसमें इस आशय के हैं कि सात वर्ष की आयु तक बच्चे की शिक्षा सामान्यतः घर पर ही होती थी। इसके बाद माध्यमिक स्तर की शिक्षा आरंभ होती थी। इसके लिए शिक्षकों के कुछ भ्रमणशील समूह बनाए गए थे। ये शिक्षक अपने विषय में पारंगत और विख्यात होते थे। शतपथ ब्राह्मण वेदांग विद्यार्थियों के लिए कुछ अनुशासन नियत करता है। इसके बाद बात आती है विशेषज्ञता या आचार्यत्व की। इस स्तर पर शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी केवल वे होते थे जो शांतचित्त हों और स्थानीय आचार्य के पुत्र या गृहनिवासी न हों। (पृष्ठ 50)

आगे ऐसे विद्यालयों के सांगठनिक ढांचे की बात की गई है। इसके पक्ष में प्रो. दास रामायण और गौतम संहिता के उद्धरण देते हैं। जब बात इन संगठनों में शुल्क की आती है तो स्पष्ट उल्लेख है कि अपने पूरे अध्ययन काल में विद्यार्थी कोई शुल्क नहीं देता था। महाभारत तो यहाँ तक कहता है कि जो लोग शुल्क या वेतन के लिए शिक्षणकार्य करते हैं, वे शूद्र के समान हैं। राजा अमरशक्ति ने अपने दुराचारी पुत्रों को पढ़ाने के लिए शिक्षक को शत शासन की दक्षिणा देनी चाही थी। इस पर विष्णु शर्मा ने कहा, 'नाहम् शासन शतेनापि विद्या विक्रयं करिष्यामि।' (पृष्ठ 116-119)

व्यावसायिक शिक्षा आज विचार का सबसे महत्वपूर्ण विषय है। प्रश्न उठता है कि क्या उस समय सारी शिक्षा सैद्धांतिक ही थी। जैसा कि एक वर्ग यह स्थापित करने में जुटा है कि प्राचीन भारत में ज्ञान की कुल उपलब्धि केवल दर्शन और कर्मकांड तक ही सीमित थी, यह कहाँ तक सच है। इसका उत्तर हमें व्यावसायिक शिक्षा संबंधी अध्याय देता है। जैसी कि अब पश्चिम की फैलाई यह धारणा प्रचलित है कि केवल ब्राह्मण ही वेदों के शिक्षण और यज्ञकर्म के अधिकारी थे, इसके विपरीत हमें प्राचीन ग्रंथों में इस बात के प्रमाण हैं कि केवल वही ब्राह्मण माने जाने के अधिकारी होते थे जो वेदज्ञ एवं पौरोहित्यकर्म में दक्ष होते थे। तैत्तिरीय संहिता घोषित करती है, 'एषा वै ब्राह्मण ऋषिरार्षेयो यः शुस्रुवन'। मैत्रायनीय संहिता इसे और स्पष्ट करती है

'किम् ब्राह्मणस्य पितरम् किम् उ मातरम्।
श्रुतम चेद् अस्मिन् वेद्यम् स पिता स पितामह॥' (पृष्ठ 181-182)

योग्यता की यह शर्त केवल ब्राह्मण तक सीमित रही हो, ऐसा भी नहीं है। शुक्राचार्य कहते हैं कि जन्म से कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या म्लेच्छ नहीं होता। यह सब कर्म और उसमें दक्षता के आधार पर ही नियत होता है। शिक्षा की यह व्यवस्था और उसके अलग-अलग स्तरों के लिए पात्रताएं भी केवल ब्राह्मणों के लिए ही नहीं, क्षत्रियों, वैश्यों और शिल्पियों के लिए भी इसी तरह निर्धारित थीं। सभी तरह की और स्तर की शिक्षाओं में विद्यार्थियों की शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक क्षमता का विकास ही शिक्षा का लक्ष्य होता था। सारा जोर इस बात पर होता था कि विद्यार्थी यहाँ से निकलकर अपना जीविकोपार्जन करने के साथ-साथ समाज की सेवा भी मनोयोग से कर सके। विभिन्न विषयों के अंगों-उपांगों तक का अध्ययन-अध्यापन अत्यंत सूक्ष्मता से और उच्चतम दक्षता के स्तर होता था। चाहे वह मृद्भांड बनाने की कला हो या लौह उपकरण। पशुपालन हो या पशु चिकित्सा। हस्ति आयुर्वेद और अश्व आयुर्वेद तक अलग-अलग अनुशासन रहे हैं। महाभारत में उपलब्ध गजसूत्र और अश्वसूत्र इसके साक्ष्य हैं। जिस्के विशेषज्ञ नकुल थे। (पृष्ठ 219)

इसी तरह स्त्री शिक्षा के संदर्भ में वेदों की संहिताओं में स्पष्ट निर्देश है कि एक अविवाहित शिक्षित कन्या का विवाह शिक्षित पुरुष से ही होना चाहिए। साथ ही यह भी अल्पवयस्क बालिका का विवाह करने की बात तो सोचनी भी नहीं चाहिए। यद्यपि इसमें वेदों के अलावा कई संहिताओं और उपनिषदों से उद्धरण लेते हुए कई प्रकार के तर्क-वितर्क हैं। किंतु समग्रता में स्थापित यही होता है कि स्त्रीशिक्षा उन दिनों सामान्य बात थी और समाज में इसे लेकर कोई निषेधात्मक भावना नहीं थी। स्त्रियों के लिए चौसठ कलाएं सीखना भी आवश्यक समझा जाता था। इनमें गीत, वाद्य, नृत्य आदि से लेकर वृक्षायुर्वेद और धातुविद्या तक आती थी। बाल-विवाह की बात तो सोची भी नहीं जा सकती थी। (पृष्ठ 238)

ऋग्वेद काल में राजकुमारों की शिक्षा-व्यवस्था में सैन्य-शिक्षा प्रमुख होती थी। यद्यपि ब्राह्मण काल में जब स्थिति अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण हो गई थी, तब उन्हें भी वेदों के लिए अधिक समय मिलने लगा। राजा जनक इसके एक जीवंत उदाहरण हैं जिनकी ख्याति ब्रह्मविद्या में पारंगत होने के लिए ही रही है। (पृष्ठ 267) पांडवों ने भी सभी वेदों और विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया था। युधिष्ठिर की ख्याति वेदों के अध्ययन के साथ-साथ सैन्य विज्ञान और रथचालन के लिए भी रही है। (पृष्ठ 274) कौटिल्य ने राजकुमारों के लिए जो पाठ्यक्रम बनाया, उसमें अन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दंडनीति प्रमुख हैं। (पृष्ठ 280) वैसे बृहस्पति, उषना, कमंदक आदि भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इस पर अलग-अलग मत प्रतिपादित किए हैं। प्राचीन भारत में शिक्षा संस्थाएं भी कई प्रकार की होती थीं। ब्राह्मण काल की प्रायः सभी बस्तियों की एक परिषद हुआ करती थी। इन परिषदों के सदस्य विद्यार्थी तक हो सकते थे और वे शिक्षा-व्यवस्था को लेकर अपना मत रख सकते थे। उस काल का एक प्रमुख बौद्धिक केंद्र तक्षशिला था। कई प्रसिद्ध आचार्य वनों में कुटिया बनाकर रहते थे और वे वहाँ विद्यार्थियों को शिक्षा दिया करते थे। हिंदू मंदिरों से भी कई विद्यालय जुड़े हुए थे। आज के तमिलनाडु में स्थित एन्नायिरम का संस्कृत महाविद्यालय इसका एक उत्तम उदाहरण है।है। वहाँ मदुरा में एक थोड़ा भिन्न प्रकार का और उत्तम शिक्षण संस्थान तमिल संगम भी था। कुछ ऐसी ही शिक्षा-व्यवस्था मठों से भी जुड़ी होती थी। इनमें शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, मृगदाव के अलावा विद्यापीठ भी होते थे। कुछ मठों के विश्वविद्यालय भी थे। विश्वविख्यात नालंदा विश्वविद्यालय एक ऐसा ही संस्थान था। विक्रमशिला विश्वविद्यालय भी ऐसा ही एक उदाहरण है। संबंधित अध्याय ऐसे कई मठ विद्यापीठों का पूरा विवरण भी देता है। (पृष्ठ 308-388)

शिक्षा के आदान-प्रदान के लिए कई प्रकार की व्यवस्थाएं बनाई गई थीं। इनमें पहली चरक शिक्षकों की थी। आचार्य शंकर के अनुसार चरक वे शिक्षक कहे जाते थे जो एक जगह स्थिर नहीं होते थे। वे पूरे देश में घूम-घूम कर ज्ञान का अर्जन और दान किया करते थे। बृहदारण्यक उपनिषद में शिक्षकों और विद्यार्थियों के एक ऐसे समूह का वर्णन मिलता है जो उत्तर से लेकर दक्षिण तक पूरे भारत का भ्रमण करते रहते थे। ऐसी ही एक परंपरा चरक संन्यासियों की थी। ह्वेन सांग के वृत्तांत में ऐसे संन्यासियों का विवरण मिलता था, जिनसे वे बहुत प्रभावित हुए थे। बौद्ध भिक्षुओं ने भी वस्तुतः इसी परंपरा का अनुसरण किया। यज्ञस्थलों पर होने वाला विमर्श भी प्राचीन भारत में शिक्षा का एक महत्वपूर्ण माध्यम था, जिसमें सभी वर्गों के लोग भाग लेते थे। नए और मौलिक साहित्य का प्रसार भी इनके ही माध्यम से होता था। श्राद्ध के अवसरों पर तापस शिक्षक शास्त्रों का पाठ करते थे। यह भी शिक्षा के प्रसार का एक माध्यम था। भारतीय-आर्य लोग धर्म और दर्शन के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर तार्किक विमर्श में हमेशा रुचि लेते थे। मंदिरों में पूजा के साथ होने वाले समारोह भी शिक्षा के माध्यम होते थे। कला को शिक्षा का एक प्रमुख माध्यम बनाया गया था। आज भी एलोरा, अजंता, धार आदि कई जगहों पर पाई जाने वाली गुफाएं और उनमें

उकेरे गए चित्र इसके साक्ष्य हैं। मंच और सभा आदि के अलावा पौराणिकों का भी शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान होता था। (पृष्ठ 389-409)

ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए प्राचीन भारत में राज्य सहयोगी की भूमिका में होता था। छांदोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद में इसके कई प्रमाण मिलते हैं। वहीं महाभारत में भीष्म महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं, 'तुम्हें उन लोगों को उपहारस्वरूप वस्त्र आदि देकर तथा कुटीरों के निर्माण के लिए सेवक नियुक्त कर प्रसन्न करना चाहिए जो वैदिक नियमों के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने में लगे हुए हैं। कौटिल्य भी कहते हैं कि ब्राह्मणों को शिक्षणकार्य के लिए ऐसे वनक्षेत्र प्रदान किए जाने चाहिए जहाँ किसी प्रकार का खतरा न हो और उन क्षेत्रों का नामकरण शिक्षक के गोत्र पर आधारित होना चाहिए। कुछ जगहों पर शिक्षकों और छात्रों को वृत्ति भी दी जाती थी। शुक्राचार्य मुख्यतः राजनैतिक और प्रशासनिक कृत्यों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि राज्य को शिक्षा के प्रसार का अपना दायित्व नहीं भूलना चाहिए। ऐसे उद्धरण भी मिलते हैं जिनमें विद्यार्थियों के शिक्षा संबंधी पूरा व्यय राज्य द्वारा वहन किया जाता था। ऐसा ही एक उदाहरण बनारस के एक ब्राह्मण बालक का है जिसे राजकीय व्यय से सैन्य विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला भेजा गया। गुरु की दक्षिणा शिक्षा पूरी होने के बाद चुकाई जाती थी और यह विद्यार्थी की श्रद्धा पर निर्भर होती थी। विद्यापीठों को राजकीय संरक्षण का इतिहास ऋग्वेद काल से ही मिलता है। (पृष्ठ 410-414)

प्राचीन भारत में शिक्षा समाज का दायित्व ही नहीं थी, शिक्षित व्यक्ति का समाज के प्रति भी अधिक दायित्व था। गुरु जब शिक्षा पूरी होने के बाद विद्यार्थी को उसके घर लौटने की अनुमति देता था तब वह यह वचन लेता था कि वह प्राप्त की हुई शिक्षा का उपयोग व्यापक समाज के हित में करेगा। तपस्वी कहे जाने वाले लोग निरंतर समाज की सेवा में ही लगे रहते थे। ह्वेन सांग कहते हैं कि ये लोग कला एवं विज्ञान के प्रसार के लिए अथक श्रम करते थे। यह प्रत्येक पिता का धार्मिक दायित्व होता था कि वह अपने बच्चों को उनकी रुचि और योग्यता के अनुकूल अधिकतम शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था बनाए। शिक्षकों और विद्यार्थियों के लिए मार्ग छोड़ना, कई जगह उनसे नाव आदि का भाड़ा न लिया जाना जैसी कुछ सुविधाएं समाज देता था। (पृष्ठ 430-452)

कुल मिलाकर यह कृति प्राचीन भारत में शिक्षा-व्यवस्था की वस्तुस्थिति का एक आधिकारिक विश्लेषण प्रस्तुत करती है। यह पूरा निरूपण किसी भी प्रकार के दुराग्रह से मुक्त तथा भरोसेमंद सांस्कृतिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों पर आधारित है। खटकने वाली केवल एक बात है और वह यह कि उस समय प्रचलित मत के अनुसार इसमें आर्यों को एक भिन्न समुदाय के रूप में वर्णित किया गया है। यद्यपि आर्य-अनार्य का विमर्श इस कृति का विषय नहीं है, तथापि यह उस समय प्रचलित साम्राज्यवादी अवधारणा का प्रभाव ही है, जिसका केवल खंडन करने का कोई प्रयास शोधकर्ता की ओर से नहीं किया गया है। भारत की स्वतंत्रता के बाद यदि शासकवर्ग ने इससे और ऐसे ही अन्य शोधकार्यों से थोड़ी भी अंतर्दृष्टि प्राप्त करने की कोशिश की होती तो संभवतः आज हमारी शिक्षा-व्यवस्था की दिशा कुछ और होती।

MHM

जीवन का विज्ञान सिखाएं

रवि शंकर

छठी कक्षा की विज्ञान की पुस्तक में कुल 16 अध्याय हैं। यदि हम वर्गीकरण करें तो इन अध्यायों को सामान्यतः भौतिकी, रसायन और पादप विज्ञान में बाँटा जा सकता है। परंतु इन अध्यायों का क्रम ऐसा नहीं है कि किसी एक विषय के सारे अध्याय लगातार हों। उदाहरण के लिए भोजन के अध्याय के साथ पादप विज्ञान को जुड़ा होना चाहिए था। पादप जगत मनुष्य के भोजन का प्रमुख और बड़ा हिस्सा है। साथ ही यदि आयुर्वेद के अनुसार चला जाए तो यही पादप जगत मनुष्य की समस्त स्वास्थ्य-समस्याओं को दूर करने में भी सक्षम हैं। दूसरी ओर, जल और वायु भी प्रकारांतर से हमारे भोजन तथा स्वास्थ्य से ही जुड़े हुए हैं। मानव शरीर की रचना तथा उसके अंगोपांगों की जानकारी भी इस दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी हैं। सजीव - विशेषताएं और आवास तथा कचड़ा- संग्रहण एवं निपटान भी मानव स्वास्थ्य से जुड़ा हुआ है। इसलिए ये सारे अध्याय यदि एक साथ होते तो उन्हें और अधिक रोचक तथा ज्ञानवर्धक ढंग से पढ़ाया जा सकता था तथा वह बच्चों के लिए अधिक उपयोगी भी होता। दूसरी ओर पदार्थ, उसके गुण, हमारे चारों ओर के परिवर्तन, गति एवं दूरियों का मापन, प्रकाश - छायाएं एवं परावर्तन, विद्युत तथा परिपथ, चुंबकों द्वारा मनोरंजन का विषय भौतिकी विज्ञान से जुड़े हैं और इन्हें एक साथ होना चाहिए था। इस प्रकार इस पुस्तक के दो भाग किए जा सकते हैं। यहाँ हम इन दो भागों में बाँट कर ही इनकी समीक्षा करेंगे। पहला भाग जीव तथा आयु विज्ञान का है। पहले दो अध्यायों यानी भोजन के विज्ञान की चर्चा पिछले अंक में की जा चुकी है। आगे के सात अध्यायों यानी अध्याय 3 तंतु से वस्त्र तक, अध्याय 7 पौधों को जानिए, अध्याय 8 शरीर में गति, अध्याय 9 सजीव - विशेषताएं एवं आवास, अध्याय 14 जल, अध्याय 15 हमारे चारों ओर की वायु और अध्याय 16 कचड़ा - संग्रहण एवं निपटान, की समीक्षा यहाँ की जाएगी।

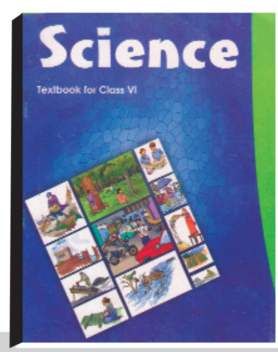

एनसीईआरटी की कक्षा छह की विज्ञान की पुस्तक का तीसरा अध्याय वस्त्रों पर है, चौथा अध्याय पदार्थों की जानकारी देता है और पाँचवाँ अध्याय विभिन्न वस्तुओं को मिलाने और उनको पृथक करने की विधाओं पर केंद्रित है। एक बार फिर खेदपूर्वक कहना पड़ता है कि इन अध्यायों की रचना से पुस्तक लेखकों का उद्देश्य स्पष्ट नहीं हो पा रहा है कि वे विद्यार्थियों को क्या सिखाना चाहते हैं। अनुवाद की समस्या को यहाँ हम छोड़े दे रहे हैं, क्योंकि एनसीईआरटी की सभी पुस्तकों में हिंदी अनुवाद निहायत ही मूर्खतापूर्ण है। पुस्तक के इन तीनों अध्यायों में बच्चों को जो जानकारी दी जा रही है, वह भी केवल वस्तुपरक जानकारी है, उस जानकारी का उपयोग क्या है, एक बार फिर पुस्तक इस पर मौन है। इस प्रकार पुस्तक बच्चों को जो जानकारी दे रही है, वह बच्चों के लिए सूचना तो है, परंतु ज्ञान नहीं।

तीसरा अध्याय वस्त्रों पर है। भोजन के बाद मनुष्य के लिए वस्त्र द्वितीय प्राथमिक आवश्यकता है। ऐसे में वस्त्र के विज्ञान की जानकारी निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है। आखिर हम वस्त्र क्यों पहनते हैं? वस्त्र हमारे लिए क्यों आवश्यक हैं? वस्त्र बनाने का विज्ञान जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही महत्त्वपूर्ण है वस्त्र पहनने का विज्ञान। किस मौसम में कैसे वस्त्र पहनने चाहिएं, वस्त्रों का हमारे शारीरिक स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह विज्ञान भी उतना ही आवश्यक है, जितना कि वस्त्रों के निर्माण का विज्ञान। एनसीईआरटी की यह पुस्तक वस्त्रों के इस विज्ञान की कोई जानकारी बच्चों को नहीं देती। इस अध्याय का प्रारंभ दो बच्चों के पुरस्कार जीतने से किया गया है। दो स्कूली बच्चे अपनी पुरस्कार राशि से स्वयं कुछ खरीदने जा रहे हैं, यह उदाहरण कहीं से भी स्वस्थ उदाहरण नहीं है। क्या स्कूली बच्चों को अपने अभिभावकों को कुछ बताए बिना इस प्रकार खरीदारी करने की प्रेरणा देना उचित है? नैतिक दृष्टि से बिल्कुल भी नहीं। आज हम अनैतिक विज्ञान का रोना रोते हैं, परंतु बचपन से ही हम अनैतिक विज्ञान की शिक्षा दे रहे होते हैं।

इस अध्याय का प्रारंभ इस प्रश्न से किया जा सकता था कि हमारे आसपास के लोग कैसे कपड़े पहनते हैं। निश्चित रूप से किसी भी शहर या कस्बे या गाँव में वस्त्रों में काफी विविधता रहती ही है। पुरुष पैंट-शर्ट, जीन्स से लेकर पैजामा कुर्ता, धोती आदि पहनते हैं और स्त्रियाँ साड़ी, कुर्ता-सलवार आदि। इसी प्रकार दूसरा प्रश्न ठंड और गर्मी के कपड़ों में अंतर का हो सकता है। इससे बच्चों को ऊनी कपड़ों की जानकारी दी जा सकती है। इन दो प्रश्नों के बाद तीसरा प्रश्न पूछा जाना चाहिए कि आखिर हम वस्त्र क्यों पहनते हैं? क्या आकर्षक दिखना ही वस्त्रों के पहनने का प्रमुख उद्देश्य है, यह इसका संबंध हमारे स्वास्थ्य से है? विभिन्न मौसमों में कैसे वस्त्र पहनना चाहिए, इसकी जानकारी यहाँ दी जानी चाहिए। इस क्रम में वस्त्रों के विभिन्न प्रकारों - सूती, रेशमी और ऊनी, की जानकारी दी जानी चाहिए। यह अवश्य बताया जाना चाहिए कि वस्त्र बनाने की सामग्री जितनी अधिक प्राकृतिक होगी, उतना ही वह वस्त्र स्वास्थ्य के लिए अच्छा होगा। इसके बाद कृत्रिम धागों की जानकारी दी जानी चाहिए।

यहाँ बच्चों को यह भी बताना उचित होगा कि दुनिया को वस्त्र पहनना भारत ने ही सिखाया। भारत से ही पूरी दुनिया में कपड़ों का निर्यात किया जाता था। जब पहली बार यूरोपीय भारत आए तो उन्होंने आश्चर्यपूर्वक लिखा कि भारत में कपड़े पेड़ों पर उगते हैं। ऐसा उन्होंने कपास को देख कर कहा था। बच्चों को कपास के पौधों की जानकारी दी जानी चाहिए। इसी क्रम में रूई के अन्यान्य स्रोत भी बताए जाने चाहिए। जैसे कि सेमल के पेड़ से भी रूई मिलती है। हालांकि वह रूई कपड़ा बनाने में काम नहीं आती, परंतु उससे तकिए और गद्दे आदि अच्छे बनते हैं। पूरी दुनिया को सूती वस्त्र बनाने की कला भारत ने ही सिखाई। यूरोप की औद्योगिक

क्रांति वस्तुतः केवल वस्त्र बनाने के मिलों से ही प्रारंभ हुई थी। वह उन्होंने भारत आने के बाद ही सीखा था। इसका कच्चा माल भी उन्हें भारत जैसे देशों से ही प्राप्त हुआ था। यही कारण है कि आज भी वस्त्र उद्योग में भारत सबसे आगे है। यहीं पर रेशम और ऊन के स्रोतों के बारे में भी बताया जाना चाहिए। बच्चों को विभिन्न प्रकार के वस्त्रों को पहचानना सिखाना चाहिए।

इसके बाद इन वस्त्रों के बनने की प्रक्रिया की जानकारी देना चाहिए। चरखा तथा तकली चलाना भी उन्हें सिखाना चाहिए। इसके लिए विद्यालयों में चरखा और तकली अनिवार्य रूप से होना चाहिए ताकि बच्चे सूत बनाना सीख सकें। सूत से कपड़ा बनाने की मशीन भी हो तो अच्छा होगा। इससे बच्चे कपड़ा बनते देख सकेंगे। उन्हें सूत से वस्त्र बनाना सिखाने का भी प्रबंध हो सके तो यह अच्छा होगा। इसके अलावा बच्चों को वस्त्रों को सिलने की जानकारी भी दी जानी चाहिए। बिना मशीन के वस्त्रों को सिलने का तरीका बच्चों को सिखाया जाना भी अच्छा प्रयोग हो सकता है। क्रोशिया की कढ़ाई, ऊनी वस्त्रों को बुनना आदि की जानकारी भी बच्चों को दिया जाना चाहिए। इससे बच्चों में इस प्रकार के कामों की न केवल जानकारी बढ़ेगी, बल्कि वे इन कामों को महत्त्व देना भी सीखेंगे। यह भी रोजगार का एक प्रकार हो सकता है, यह जानकारी भी उन्हें मिलेगी। विज्ञान के ज्ञाता को किसी नौकरी की तलाश में भटकना पड़े, यह तो उस विज्ञान के ऊपर ही एक प्रश्नचिह्न है। विज्ञान के ज्ञाता को कम से कम आजीविका तलाशने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।

वस्त्रों के अलावा जूट के बैग, जूट की रस्सी आदि बनाना भी बच्चों को सिखाया जा सकता है। इसके लिए बच्चों को ऐसे किसी हैंडलूम केंद्र का भ्रमण भी करवाया जा सकता है। यहाँ हम बच्चों को यह प्रेरणा भी दे सकते हैं कि प्राकृतिक पदार्थों से बनने वाले वस्त्र, बस्ते आदि पर्यावरण के लिए लाभकारी होते हैं। इनका पुनर्चक्रण सरल और आसान होता है। दूसरी ओर कृत्रिम वस्त्र और प्लास्टिक के बैग आदि मानव स्वास्थ्य और पर्यावरण दोनों के लिए नुकसानदेह होते हैं। इसलिए हमें प्रयासपूर्वक प्राकृतिक पदार्थों के बने वस्त्रों तथा बस्तों आदि का प्रयोग करना चाहिए। यदि बचपन से उन्हें वस्त्रों के पर्यावरणानुकूल विज्ञान की जानकारी और प्रयोग करने की प्रेरणा दी जाएगी तो वे बड़े होकर भी इनका प्रयोग करेंगे। इसी क्रम में पुराने वस्त्रों से बनाए जाने वाले पारंपरिक गद्दों, आज मशीनों से बनाए जाने वाले चादर, बैग आदि के बारे मंे उन्हें बताया जाना चाहिए।

वस्तुतः विज्ञान पढ़ाने के दो उद्देश्य होते हैं। पहला उद्देश्य है उन्हें प्रकृति के रहस्यों से परिचित कराना और दूसरा उद्देश्य है जीवन को सुखी बनाना। पहले उद्देश्य की पूर्ति के लिए सिद्धांतों की जानकारी दी जानी चाहिए तो दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए तकनीक सिखाना चाहिए। वस्त्रों के संबंध में भी विज्ञान और तकनीक के इस समन्वय किए जाने की आवश्यकता है। आज बच्चे कपड़े तो पहनते हैं, परंतु उन्हें इसके बनाने में लगने वाले परिश्रम का अनुभव नहीं होता, इसलिए वे वस्त्र जितना पहनते हैं, उससे अधिक आज बर्बाद करते हैं। अधिक से अधिक संख्या में वस्त्रों का संग्रह रखना एक प्रकार का फैशन माना जाने लगा है। यदि उन्हें इन्हें बनाने में लगन वाले परिश्रम का अनुभव हो तो वे स्वयं ही इनके अपव्यय से बचेंगे। उदाहरण के लिए पहले हाथों से स्वेटर बुने जाते थे। इसलिए एक स्वेटर को लोग वर्षानुवर्ष पहनते थे। आज मशीनों से बुने स्वेटर लोग खरीदते हैं और इसलिए उनका अपव्यय समाज में बढ़ा है। किसी भी पदार्थ का अपव्यय प्रकृति के लिए और अंततः मनुष्यों के लिए भी हानिकारक ही होता है। यह समझ प्रारंभ से ही बच्चों में डालना आवश्यक है। भोजन की ही भांति वस्त्र विज्ञान और उद्योग पर दो अध्याय होने चाहिएं।

अध्याय सात में पौधों के बारे में जानकारी दी गई है। पौधों के बारे में इसमें दी गई जानकारी लगभग ठीक है। साथ ही पौधों के पंचांगों के बारे में भी थोड़ी जानकारी दी जा सकती है। पंचांगों के औषधीय प्रयोगों की भी प्राथमिक जानकारी दी जानी चाहिए। इससे बच्चों में विषय के प्रति रुचि जगती है। उन्हें कुछ उपयोगी पौधों को पहचानना भी सीखना चाहिए। उदाहरण के लिए अपामार्ग जिसके पौधे अमूमन कहीं भी पाए जाते हैं, के पत्तों के रस से बहते रक्त को रोका जा सकता है। नीम के पत्तों की पुल्टिस से घाव शीघ्र सूखते और भरते हैं। नीम के पत्तों को पानी में डाल कर स्नान करने से त्वचासंबंधी विकार दूर होते हैं। पाठ्यक्रम हेतु हरेक वर्ष के लिए ऐसे 2-3 पौधों का चयन किया जा सकता है, जिसकी संपूर्ण जानकारी बच्चों को दी जाए। ऐसी जानकारियां न केवल बच्चों को रोचक लगेंगी, बल्कि ये उनके जीवन में भी काम आएंगी। पुस्तक में जो प्रयोग बताए गए हैं, सामान्यतः वे विद्यालयों में करवाए नहीं जाते, क्योंकि अधिकांश विद्यालयों में उद्यान नहीं होता, जहाँ सभी प्रकार के पौधे उपलब्ध हों। यदि होता भी है तो सामान्यतः शिक्षक इसके लिए इतना प्रयास नहीं करते, क्योंकि वे स्वयं भी बागवानी नहीं करते। यह सामान्यतः देखा जाता है कि पादप विज्ञान के शिक्षक मिट्टी में हाथ डाल कर स्वयं बागवानी नहीं करते हैं। उनके पास केवल पुस्तकीय ज्ञान ही होता है। इसलिए आवश्यक है कि शिक्षकों को इसका व्यावहारिक ज्ञान भी हो और पुस्तक में दिए गए प्रयोग विद्यालयों में शिक्षक द्वारा स्वयं करके दिखाए जाएं। बच्चों को विद्यालय में बागवानी का अभ्यास करवाया जाए।

अध्याय आठ में शरीर की अस्थि संरचना की जानकारी दी गई है। साथ ही कुछेक कीड़े-मकौड़ों तथा पशु-पक्षियों की चाल के बारे में भी जानकारी दी गई है। शरीर की अस्थि संरचना की जानकारी तो फिर भी कुछ उपयोगी है, परंतु केंचुआ, घोंघा, तिलचट्टा, सांप आदि की चाल को अलग से क्यों बताया गया है, यह स्पष्ट नहीं है। इसी प्रकार पक्षी कैसे उड़ते हैं, मछली कैसे तैरती है, जैसी जानकारियां भी जानने भर के लिए ही हैं, उपयोगी नहीं। मानव शरीर की रचना के बारे में केवल अस्थि संरचना को जितने विस्तार से बताया गया है, उससे बच्चों को रटने की आवश्यकता बढ़ जाती है। यदि उन्हें इसकी बजाय सामान्य अस्थि विज्ञान बताते हुए उसके बाद वात, पित्त और कफ की जानकारी दी जाती तो वह उन्हें न केवल सहजता से समझ आती, बल्कि स्मरण रखना भी उनके लिए आसान होता। शरीर रचना में भोजन से बनने वाले सात धातुओं की जानकारी देना भी उपयोगी होता। यह बच्चों के लिए समझने में भी आसान होता। भोजन से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से वीर्य के बनने की आयुर्वेदिक सिद्धांत को बताया जाना चाहिए। यहाँ पर मनुष्यों की शेष जीवों से भिन्नता पर प्रकाश डाल जाना चाहिए था। आखिर किस प्रकार मनुष्य से इतर जीव अपने प्राकृतिक चक्र में बंधे हैं? किस प्रकार मनुष्य अपने निर्णय लेने के लिए स्वाधीन है? यह स्वतंत्रता उत्तरदायित्व का बोधक है, यह विज्ञान भी बच्चों को अभी से बताया जाना चाहिए। इसके लिए इसके बाद का नौवां अध्याय सजीव - विशेषताएं एवं आवास का उपयोग किया जा सकता है।

नौवें अध्याय में सजीव के लक्षणों का वर्णन है। यह वर्णन ठीक तो है, परंतु सटीक नहीं है। इसमें सटीकता लाने की आवश्यकता है। इस अध्याय में सजीव के आवास से प्रारंभ किया गया है। यह बताए बिना कि सजीव हम किसे कहते हैं, उनके आवास और विभिन्न प्रकार के वातावरणों तथा क्षेत्रों में उनकी उपस्थिति की चर्चा करना थोड़ा भ्रामक है। सबसे पहले तो बच्चों को सजीव-निर्जीव का भेद समझाना चाहिए। इसके बाद उन्हें स्थावर तथा जंगम का

भेद समझाना चाहिए। सजीव के लक्षण करते हुए न्याय दर्शन1/1/10 में स्पष्ट कहा है - इच्छाद्वेषप्रयत्न-सुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्‍ इसका अर्थ है - इच्छा करना, द्वेष करना, कुछ करने का प्रयास करना, सुख-दुःख अनुभव करना और जानकारी रखना आत्मा यानी सजीव के लक्षण हैं। इसको अधिक विस्तार से वैशेषिक दर्शन 3/2/4 में बताया गया है - प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। इस प्रकार वैशेषिक में प्राण और अपान जिसे बच्चों को श्वासोच्छ्वास के रूप में बताया जा सकता है, निमेष यानी संकोच और उन्मेष यानी फैलाना अर्थात् शरीर को फैलाना, सिकोड़ना, विचार करना आदि भी सजीव के लक्षण हैं। सजीवों में ही दो भाग हैं - स्थावर और जंगम यानी एक स्थान पर स्थिर रहने वाले और एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलने वाले। स्थावर यानी पादप जगत और जंगम यानी जीव जगत। यहाँ हम बच्चों को ऐसे पौधों के बारे में बता सकते हैं जो अपने अंगों को फैलाते और सिकोड़ते हैं जैसे कि लाजवंती का पौधा। पौधों में जीवन है, यह मूल सिद्धांत भारत से ही विश्व में गया है, यह भी यहाँ बच्चों को बताया जा सकता है। पादपों के श्वांस लेने की बात भी उन्हें बताई जा सकती है।

पादपों और जीवों के अन्योन्याश्रित संबंध को भी यहाँ बताया जाना चाहिए। वृक्ष हमें जीवन देते हैं, उसके विभिन्न अंग हमें स्वास्थ रखते हैं। पेड़-पौधों द्वारा कार्बन डाइ आक्साइड का ग्रहण और आक्सीजन का उत्सर्जन तथा मनुष्यों द्वारा इसका ठीक उलटा किया जाना, एक दूसरे के अन्योन्याश्रित संबंधों का ही द्योतक है। इसलिए हमने वृक्षों की पूजा की। पीपल, बरगद, नीम, तुलसी, जैसे वृक्ष और पौधे हमारे लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। गाय को माँ कहा, वृषभ को देव माना, सांपों तक को हमने देव माना - यह सब कोई अंधविश्वास नहीं, बल्कि हमारे पूर्वजों की वैश्विक पर्यावरणीय दृष्टि थी। इसके अलावा चराचर सृष्टि के अन्योन्याश्रय संबंध को भी बताया जाना चाहिए। जैसे कि नदियाँ भले ही निर्जीव हैं, परंतु वे मनुष्य तथा वन के लिए जीवन रेखा का काम करती हैं और इसलिए उन्हें भारतीय मनीषियों ने माँ का सजीव स्थान प्रदान किया। इसी प्रकार पर्वत हालांकि निर्जीव हैं, परंतु वे हमारे लिए आश्रय का काम करते हैं और इसलिए हमने उन्हें देव की संज्ञा दी। वर्षा एक प्राकृतिक प्रक्रिया है, परंतु हमने इंद्रदेव कहकर उसकी अभ्यर्थना की। आग निर्जीव है, परंतु उसे हमने देवस्वरूप मानकर प्रतिष्ठा दी। वैदिक ऋषियों की ये स्थापनाएं किन्हीं भयभीत तथा अज्ञानी आदिम प्राणियों के मूर्खतापूर्ण उद्गार मात्र नहीं थे। यह तो चराचर जगत में समन्वय स्थापित करने वाली अत्यंत उदार तथा एकात्म दृष्टि थी। इसलिए भारतीय मनीषियों ने बलिवैश्वदेव यज्ञ को दैनिक कर्मों में शामिल किया ताकि हम मनुष्य से इतर जीव जगत को अपनी कृतज्ञता ज्ञापित कर सकें। बच्चों को यहाँ बलिवैश्वदेव यज्ञ की भी जानकारी दी सकती है।

यह समझना बच्चों के लिए सरल होगा, क्योंकि वे अपने दैनंदिन जीवन में इसे देखते हैं। इससे उन्हें न केवल प्रकृति के रहस्यों को समझने में सहायता मिलेगी, जोकि विज्ञान का मुख्य उद्देश्य है, बल्कि इससे उन्हें प्रकृति के प्रति अनुराग भी पैदा होगा, जोकि आज के विज्ञान के शिक्षण से नहीं होता। इससे उनके अंदर वह नैतिकता विकसित होगी, जिसके अभाव का आज रोना रोया जाता है। इसके बाद बच्चों को विभिन्न प्रकार के वातावरण में रहने वाले स्थावर तथा जंगम जीवों में होने वाले परिवर्तनों या अनुकूलनों की जानकारी दी जा सकती है। इसके बारे में इस अध्याय में विस्तार से बताया गया है।

अगला अध्याय 14 जल पर है। इस अध्याय का प्रारंभ जल के विज्ञान से नहीं, बल्कि उसके स्त्रोतों और जल के संरक्षण की चर्चा से किया गया है। निश्चय ही जल का संरक्षण एक

महत्त्वपूर्ण मुद्दा है, परंतु विज्ञान की पुस्तक में तो पहले जल का विज्ञान ही दिया होना चाहिए था। जल के विज्ञान के साथ वर्षा का विज्ञान भी इसमें दिया गया है। इसके साथ अनावृष्टि और अतिवृष्टि को भी समझाया गया है। अंत में वर्षा जल के संरक्षण की चर्चा के साथ अध्याय समाप्त हो जाता है। जल का मूल गुण क्या है, इसकी चर्चा कम हुई है। इस प्रकार जल के वैज्ञानिक पक्ष की बजाय उसके सामाजिक पक्ष की ही पुस्तक में अधिक चर्चा की गई है। एक बार फिर ऐसा हुआ है लेखकों के राजनीतिप्रेरित दृष्टिकोण के कारण। एनसीईआरटी के लेखकों में राजनीति कूट-कूट कर भरी हुई दिखती है।

जल के विज्ञान की बात करें तो सबसे पहले यह बताया जाना चाहिए कि सृष्टि जिन पंचमहाभूतों से बनी है, जल उसमें चौथा तत्त्व है। इसके लिए एक प्रसिद्ध कहावत है - क्षिति जल पावक गगन समीरा, पंचतत्त्व मिली बनी अधम शरीरा। पृथिवी का तीन चौथाई भाग जल ही है। पृथिवी की ही भांति मानव शरीर में भी 60 प्रतिशत जल ही होता है। इस प्रकार पृथिवी और मानव दोनों के लिए ही जल एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। जल के विज्ञान में सबसे पहले वैशेषिक दर्शन 2/1/5 के अप्सु शीतता का उल्लेख आना चाहिए। जल का एक प्रमुख गुण है कि वह शीतल होता है। इसलिए वह अग्नि को शांत करता है, जलन को समाप्त करता है। इस कारण इसका औषधीय प्रयोग भी होता है। जल का दूसरा गुण नीचे की ओर जाने का होता है। वैशेषिक दर्शन 5/2/3 में कहा है - अपां संयोगाभावे गुरुत्वात पतनम् यानी यदि किसी बाह्य बल का प्रयोग न किया जाए तो गुरुत्व के कारण अपां यानी जल सामान्यतः नीचे की ओर जाता है। इसके बाद के सूत्रों में महर्षि कणाद यह भी बताते हैं कि अनेक प्रक्रियाओं में जल ऊपर की ओर भी चढ़ता है जिनमें से एक को आज कैपिलरी प्रक्रिया कहा जाता है। इसी प्रक्रिया के कारण वृक्षों में जल ऊपर की ओर चढ़ता है। इसी प्रकार जल का एक और गुण होता है भिगोने का। जल किसी भी वस्तु को भिगो सकता है। जल के इन गुणों और रहस्यों को जानकर हम मानव एवं प्रकृति की रक्षा में उसका उपयोग करते हैं। जल के संरक्षण में भी इनका उपयोग होता है।

चूँकि पृथिवी और मानव शरीर दोनों की ही रचना में जल का भाग काफी अधिक है, इसलिए दोनों के लिए ही जल का संतुलन काफी महत्त्वपूर्ण है। जल के उपयोगों का वर्णन करते हुए मनुस्मृति में कहा है - अद्भिर्गात्राणि शुद्धयंति यानी जल से शरीर की शुद्धि होती है। वेदों में भी जल के औषधि होने और उसके विभिन्न गुणों का वर्णन किया गया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद में कहा है

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः।। -ऋग्0 1/23/19

अर्थ- (अप्सु अन्तः अमृतं) जल के भीतर अमृत है, (अप्सु भेषजं) जल में औषधि गुण है (उत अपां प्रशस्तये) ऐसे जलों की प्रशंसा करने के लिए (देवाः वाजिनः भवत) हे देवों! तुम उत्साही बनो।

इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि। यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेष उतानृतम्।। -ऋग् 1/23/22

अर्थ- (आपः) हे जलो! (यत् किञ्च) जो कुछ भी (दुरितम्) अशुभ आचरण (मयि) मेरे जीवन में है (इदम्) इसको (प्रवहत) बहाकर दूर ले जाओ। जल शरीर के रोगों को ही दूर करते हों, सो नहीं, इनका मानस रोगों पर भी प्रभाव पड़ता है।

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम।। -ऋग् 10/137/6

अर्थ- (आपः) जल (इद वा उ) निश्चय से (भेषजीः) औषध हैं। ये (आपः) जल (अमीवचातनीः) रोगों का विनाश करनेवाले हैं। (आपः) जल (सर्वस्य भेषजीः) सब रोगों

के औषद हैं। (ता) वे जल (ते) तेरे लिए (भेषजं कृण्वन्तु) औषध को करें।

इस प्रकार बच्चों को यह बताया जाना चाहिए कि जल के विभिन्न प्रकार के प्रयोग से हम विभिन्न बीमारियों की चिकित्सा भी कर सकते हैं और जल के गलत प्रयोग से हम बीमार भी पड़ सकते हैं। इस प्रकार जल के विज्ञान को समझाने के बाद जल के अपव्यय के बारे में बताना उचित होगा।

पुस्तक का 15वाँ अध्याय वायु का है। वायु के अध्याय में दी गई जानकारियाँ और प्रयोग अच्छे हैं। परंतु जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, विज्ञान की यह पुस्तक केवल यूरोपीय ज्ञान की जानकारी ही देती है। वायु के संबंध में भारतीय विज्ञान को यह पुस्तक नहीं बताती है। सबसे पहले तो वायु के बारे में यह बताया जाना चाहिए कि यह भी पंचमहाभूतों में से एक है। सृष्टि में सबसे पहले आकाश की उत्पत्ति होती है और उसके बाद वायु की। वायु का गुण है स्पर्श। वैशेषिक दर्शन 2/1/4 में कहा गया है - स्पर्शवान् वायुः यानी वायु का मुख्य गुण स्पर्श है और इसलिए हम त्वचा से इसे अनुभव कर पाते हैं। वायु में ठंडक और गरमी जैसे गुण अग्नि तथा जल के संयोग से आते हैं। वायु का दूसरा गुण है प्राण। वायु प्राण है। हालाँकि वायु के कई प्रकार हैं, जिनमें पाँच प्रमुख प्रकार हैं - प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। इनमें से प्राण वायु को आज की भाषा में ऑक्सीजन कहा जाता है। प्राण वायु ही जीवन का आधार है। प्राण और अपान को ही श्वासोच्छ्वास से पहचाना जा सकता है। जो वायु हम श्वास में लेते हैं, वह प्राण है और जिसे हम छोड़ते हैं वह अपान है। शेष तीन वायु शरीर के समस्त कार्यो का संचालन करती हैं। इस प्रकार हमारे शरीर के स्वस्थ रहन का एक बड़ा आधार ये पाँच वायु हैं। सूक्ष्म अवस्था में इन्हें वात के नाम से जाना जाता है। वात का संतुलन स्वस्थ शरीर के लिए अत्यंत आवश्यक होता है। वात के बिगड़ने से अनेक प्रकार के रोग होते हैं, जिनमें गठिया एक प्रमुख रोग है। विभिन्न प्रकार के दर्दों के होने में वात का असंतुलन ही कारण होता है। वायु गति का भी प्रतीक है। वायु गति करती है। गति के गुण के कारण ही वायु शरीर के संचालन में समर्थ होता है। इसलिए वातप्रधान लोग सामान्यतः चंचल शरीर और मन के होते हैं। गति के गुण के कारण वायु ऊर्जा का एक प्रमुख स्रोत है। वायु के इस भारतीय विज्ञान को शामिल करके इस अध्याय को संपूर्ण और उपयोगी बनाया जा सकता है।

पुस्तक का 16वाँ अध्याय कचड़ा - संग्रहण और निपटान पर है। यह अध्याय भी विज्ञान के राजनीतिकरण का प्रतीक है। कचड़ा निपटान संयुक्त राष्ट्र संघ के मिलेनियम डेवलॅपमेंट गोल का हिस्सा है। मिलेनियम डेवलॅपमेंट गोल वस्तुतः स्वयं को विकसित कहने वाले देशों की राजनीति का एक हिस्सा हैं। चूँकि वे देश स्वयं प्राकृतिक संसाधनों का सर्वाधिक शोषण करते हैं और उनकी नीतियों तथा उनके द्वारा प्रचारित जीवनशैली के कारण ही सर्वाधिक कचड़ा पैदा होता है, इसलिए वे स्वयं को अच्छा दिखाने के लिए इस तरह के उपक्रमों की रचना करते हैं। उदाहरण के लिए प्लास्टिक का उत्पादन इन्हीं देशों ने प्रारंभ किया और उसका सर्वाधिक प्रचार भी इन्होंने ही किया। स्वाभाविक ही है कि प्लास्टिक कचड़े के लिए वे सीधे तौर पर जिम्मेदार हैं। ऐसे में अपने ऊपर से यह लांछन हटाने के लिए स्वच्छता अभियान जैसे कार्यक्रम भारत जैसे देशों पर थोपे जाते हैं। प्रश्न उठता है कि जो कचड़ा सरकारी तथा अंतरराष्ट्रीय नीतियों के कारण पैदा हो रहा है, उसका निपटान करना ये बच्चे कैसे सीख पाएंगे? क्या प्लास्टिक का उत्पादन सरकार रोक सकती है? क्या प्लास्टिक को हटा कर हम आधुनिक तकनीक की सुविधाओं की कल्पना भी कर सकते हैं? उत्तर है नहीं। बिना प्लास्टिक के विद्युत का वितरण असंभव हो जाएगा। केवल विद्युत वितरण के लिए प्लास्टिक का

उत्पादन इतना अधिक मँहगा है कि वह विद्युत भी अत्यधिक मँहगी हो जाएगी। इसप्रकार अत्यंत मँहगी विद्युत को हम अपने प्राणों के मूल्य पर सस्ता कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों की पठन सामग्री स्वयं में न केवल पर्यावरणविरोधी है, बल्कि वह कचड़ा उत्पादन की जड़ है। पुस्तकों तथा लेखन पुस्तिकाओं के लिए कागज का उत्पादन और कलम आदि के लिए प्लास्टिक का उत्पादन अनिवार्य है।

इस विश्लेषण से इस अध्याय में जो पढ़ाया जा रहा है, उसकी व्यर्थता साबित होती है। परंतु कचड़ा प्रबंधन के भारतीय विज्ञान और प्रबंधन को इसमें पढ़ाया और सिखाया जा सकता है। भारतीय विज्ञान के अनुसार समस्त प्राणी थोड़ा बहुत अशुद्धि वातावरण में फैलाते ही हैं। चाहे वह अपान वायु के द्वारा हो या फिर वनस्पतियों को भोजन के लिए ग्रहण करना हो, भोजन पकाने के लिए अग्नि जलाना हो या फिर घर बनाने के लिए सामग्रियों को लेना हो, मनुष्य अपने जीवन को सुविधाजनक बनाने के लिए अनेक प्रकार अपशिष्ट पदार्थों का उत्सर्जन करता ही है। इनके निवारण के लिए भारतीय मनीषियों ने दैनिक पंचमहायज्ञों का विधान किया था। पंचमहायज्ञों में तीन सीधे-सीधे अपशिष्ट प्रबंधन से जुड़े हुए हैं। वायु तथा जल की शुद्धि के लिए दैनिक अग्निहोत्र का विधान था। प्रकृति के संरक्षण के लिए बलिवैश्वदेव यज्ञ का विधान किया गया था। बलिवैश्वदेव यज्ञ में जिन पशु-पक्षियों को भोजन दिया जाता है, वे भी कचड़ा निपटाने के प्राकृतिक सिपाही हैं। इसके अतिरिक्त अतिथि यज्ञ भी प्रकारांतर से कचड़े के उत्पादन को रोकता था। यदि अतिथि बाजार में भोजन करेंगे तो उससे फिर कचड़ा पैदा होगा ही। घरों में अतिथियों को भोजन कराना अतिरिक्त कचड़े के उत्पादन को रोकना ही है।

इस अध्याय में वर्मीकम्पोस्ट बनाने के लिए बताया गया है, जोकि इस आयु के बच्चों के लिए अनुपयोगी है। इसके स्थान पर हम बच्चों को यह सिखा सकते हैं कि वे फल तथा सब्जियों के छिलकों तथा अवशेषों को गाय आदि जानवरों के भोजन के लिए दे दें। कागज का बिल्कुल भी दुरुपयोग न करें। किसी भी लेखन पुस्तिका में कोई भी पृष्ठ खाली न छोड़ें। अखबार की कतरनें न बनाएं। पुरानी लेखन पुस्तिकाओं के कागज और पुराने अखबार से बच्चों को कागज के लिफाफे बनाना सिखाया जाना चाहिए। ये लिफाफे वे बाजार से सामान लाने के लिए उपयोग कर सकते हैं। अधिक मात्रा में बनाए जाने पर इन्हें बेचा भी जा सकता है। बच्चों को बताया जाना चाहिए कि वे अपनी थाली में भोजन बिल्कुल भी न छोड़ें। उनके द्वारा छोड़ा गया भोजन न केवल उस भोजन की बर्बादी है, बल्कि उसके उत्पादन में लगे प्राकृतिक संसाधनों और श्रम का भी अपमान है।

MHM

राजा राममोहन राय – एक रहस्यमय व्यक्तित्व

डॉ. शैलेन्द्र कुमार*

*लेखक भारत सरकार के वित्त मंत्रालय में संयुक्त सचिव के पद पर कार्यरत हैं। लेख में व्यक्त विचार पूर्णतः व्यक्तिगत हैं।

राजा राममोहन राय, इस नाम से देश के सभी साक्षर और शिक्षित अवश्य परिचित होंगे, क्योंकि उनके विषय में इतिहास की विद्यालयी पुस्तकों में थोड़ा-बहुत उल्लेख अनिवार्यतः मिलता है। उन्हें भारतीय नवजागरण का अग्रदूत, भारत का पहला आधुनिक व्यक्ति, पहला आधुनिक प्रबुद्ध, पहला आधुनिक समाज सुधारक, पहला आधुनिक राजनीतिज्ञ, भारतीय पत्रकारिता का जनक आदि के अतिरिक्त उन्हें आधुनिक भारत का जनक भी माना जाता है। उदाहरण के लिए, हम एनसीइआरटी की तीन पुस्तकों को देखेंगे कि राममोहन राय के विषय में सामान्यतः क्या लिखा गया है। इसके बाद हमारा प्रयास यह जानने का होगा कि राममोहन राय के बारे में वे कौन सी बातें हैं, जो हमें जाननी तो चाहिएं पर बताई नहीं जातीं और इसी के साथ हम एनसीइआरटी की तीनों पुस्तकों में दी गई जानकारी की सत्यता का परीक्षण भी करेंगे कि इनमें कितना सत्यांश है।

बाल्मिकी प्रसाद सिंह द्वारा लिखित और एनसीइआरटी द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'आवर इंडिया' का उद्धरण प्रस्तुत है : 'उन्नीसवीं शताब्दी से हमारे देश में धर्म और राजनीति दोनों ही क्षेत्रों में व्यापक परिवर्तन आरंभ हुए। 1828 में राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज बंगाल और पड़ोसी राज्यों में सक्रिय हुआ। राममोहन द्वारा प्रारंभ की गई सुधार की इस प्रबुद्ध परंपरा ने एक ऐसा आधार प्रदान किया, जिस पर कालांतर में स्वामी विवेकानंद ने धर्म की परिष्कृत

व्याख्या करके उसका उद्देश्य निर्धन की सेवा बताया।'

एनसीइआरटी की कक्षा 8 की इतिहास की पुस्तक से कुछ उद्धरण दिए जा रहे हैं :

'देश के कुछ भागों में विधवाओं से उम्मीद की जाती थी कि वे अपने पति की चिता के साथ ही जिंदा जल जाएं। इस तरह स्वेच्छा से या जबरदस्ती मार दी गई महिलाओं को 'सती' कहकर महिमामंडित किया जाता था। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही हमें सामाजिक रीति-रिवाजों और मूल्य-मान्यताओं से संबंधित विचार-विमर्श का स्वरूप बदलता दिखाई देता है। इस तरह की बहसें अक्सर भारतीय सुधारकों और सुधार संगठनों की तरफ से शुरू होती थीं। राजा राममोहन राय इसी तरह के एक सुधारक थे। उन्होंने कलकत्ता में ब्रह्म समाज नाम का एक सुधारवादी संगठन बनाया था। राममोहन राय जैसे लोगों को सुधारक इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह मानते थे कि समाज में परिवर्तन लाना और अन्यायपूर्ण तौर-तरीकों से छुटकारा पाना जरूरी है। उनका विचार था कि इस तरह के परिवर्तन लाने के लिए लोगों को इस बात के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए कि वे पुराने व्यवहार को छोड़कर जीवन का नया ढंग अपनाने के लिए तैयार हों।

राममोहन राय देश में पश्चिमी शिक्षा का प्रसार करने और महिलाओं के लिए अधिक स्वतंत्रता व समानता के पक्षधर थे। उन्होंने इस बारे में लिखा है कि किस तरह महिलाओं को बलात घरेलू काम से बांधकर रखा जाता था, उनकी दुनिया घर और रसोई तक ही सीमित कर दी जाती थी और उन्हें बाहर जाकर पढ़ने-लिखने की अनुमति नहीं दी जाती थी। राममोहन राय इस बात से काफी दुखी थे कि विधवा महिलाओं को अपनी जिंदगी में भारी कष्टों का सामना करना पड़ता था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सती प्रथा के विरुद्ध अभियान चलाया था। राममोहन राय संस्कृत, फारसी तथा अन्य कई भारतीय एवं यूरोपीय भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्राचीन ग्रंथों में विधवाओं को जलाने की अनुमति कहीं नहीं दी गई है। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ तक बहुत सारे अंग्रेज अधिकारी भी भारतीय परंपराओं और रीति-रिवाजों की आलोचना करने लगे थे। वे राममोहन राय के विचारों को सही मानते थे क्योंकि उनकी एक विद्वान व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा थी। अंततः 1829 में सती प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

राममोहन राय ने इस अभियान के लिए जो रणनीति अपनाई उसे बाद के सुधारकों ने भी अपनाया। जब भी वे किसी हानिकारक प्रथा को चुनौती देना चाहते थे, तो अक्सर प्राचीन ग्रंथों से ऐसे श्लोक या वाक्य ढूंढ़ने का प्रयास करते थे, जो उनकी सोच का समर्थन करते हों। इसके बाद वह तर्क देते थे कि संबंधित वर्तमान रीति-रिवाज प्रारंभिक परंपरा के विरुद्ध हैं।' (पृष्ठ 108-110)

कक्षा 12 की एनसीइआरटी की इतिहास की पुस्तक (पुराना संस्करण) में राममोहन राय के विषय में विस्तार से बताया गया है। अब इस पुस्तक से कुछ उद्धरण देखिए :

'उनके मन में प्राच्य दार्शनिक विचारधाराओं के प्रति गहन प्रेम और आदर था। लेकिन वह यह भी सोचते थे कि केवल पश्चिमी संस्कृति से ही भारतीय समाज का पुनरुत्थान संभव था। विशेष रूप से वह चाहते थे कि उनके देश के लोग विवेकशील दृष्टि और वैज्ञानिक सोच अपनाएं तथा नर-नारियों की मानवीय प्रतिष्ठा और सामाजिक समानता के सिद्धांत को स्वीकार कर लें। साथ ही, वह चाहते थे कि देश में आधुनिक पूंजीवादी उद्योग आरंभ किए जाएं।

राममोहन राय प्राच्य और पाश्चात्य चिंतन के संश्लिष्ट रूप के प्रतिनिधि थे। वह विद्वान थे और संस्कृत, फारसी, अरबी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, ग्रीक और हिब्रू सहित एक दर्जन से अधिक

भाषाएं जानते थे। युवावस्था में उन्होंने वाराणसी में संस्कृत साहित्य और हिंदू दर्शन तथा पटना में कुरान और फारसी तथा अरबी साहित्य का अध्ययन किया था। वह जैन धर्म और भारत के अन्य धार्मिक आंदोलनों तथा पंथों से अच्छी तरह परिचित थे। बाद में उन्होंने पाश्चात्य चिंतन और संस्कृति का गहरा अध्ययन किया। मूल बाइबिल का अध्ययन करने के लिए उन्होंने ग्रीक और हिब्रू भाषाएं सीखीं। उन्होंने 1809 में फारसी में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एकेश्वरवादियों को उपहार' लिखी, जिसमें उन्होंने अनेक देवताओं में आस्था के विरुद्ध एकेश्वरवाद के पक्ष में बलवती तर्क दिए।

वह 1814 में कलकत्ता में बस गए और उन्होंने शीघ्र ही युवाओं के एक समूह को अपनी ओर आकर्षित कर लिया, जिनके सहयोग से उन्होंने 'आत्मीय सभा' आरंभ की। तब से लेकर जीवन भर बंगाल के हिंदुओं में प्रचलित धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध उन्होंने एक जोरदार संघर्ष चलाया। विशेष रूप से उन्होंने मूर्तिपूजा, जाति की कट्टरता और निरर्थक धार्मिक कृत्यों के प्रचलन का भरपूर विरोध किया। इन परंपराओं को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने पुरोहित वर्ग की निंदा की। उनकी धारणा थी कि सभी प्रमुख प्राचीन हिंदू धर्मग्रंथों ने एकेश्वरवाद की शिक्षा दी है। अपने दावे को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने वेदों और पांच प्रमुख उपनिषदों के बांग्ला अनुवाद प्रकाशित किए। उन्होंने एकेश्वरवाद के समर्थन में कई पुस्तक-पुस्तिकाएं लिखीं।

प्राचीन शास्त्रों को उद्धृत करने के अतिरिक्त उनकी धारणा थी कि अंततोगत्वा मानवीय तर्क-शक्ति का ही सहारा लेना चाहिए। राममोहन राय ने अपने विवेकशील दृष्टिकोण का प्रयोग केवल भारतीय धर्मों और परंपराओं तक ही सीमित नहीं रखा। इससे उनके अनेक ईसाई धर्मप्रचारक मित्रों को निराशा हुई जिन्हें आशा थी कि हिंदू धर्म की विवेकशील समीक्षा उन्हें ईसाई धर्म स्वीकार करने के लिए प्रेरित करेगी। राममोहन राय ने ईसाई धर्म, विशेषकर उसमें निहित अंध आस्था के तत्वों को भी विवेक शक्ति के अनुसार देखने पर जोर दिया। उन्होंने 1820 में 'प्रेसेप्ट्स ऑफ जीसस' (ईसा के उपदेश) नाम की पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने 'न्यू टेस्टामेंट' के नैतिक और दार्शनिक संदेश को उसकी चमत्कारी कहानियों से अलग करने की कोशिश की। पर उसके नैतिक और दार्शनिक संदेशों की प्रशंसा की। वह चाहते थे कि ईसा मसीह के उच्च नैतिक संदेश को हिंदू धर्म में समाहित कर लिया जाए। इससे ईसाई धर्म प्रचारक उनके विरोधी बन गए।

राममोहन राय का कहना था कि विवेक बुद्धि का सहारा लेकर नए भारत को सर्वोत्तम प्राच्य और पाश्चात्य विचारों को प्राप्त कर संजोए रखना चाहिए। अतः उनकी इच्छा थी कि भारत पश्चिमी देशों से सीखे। परंतु सीखने की यह प्रक्रिया एक बौद्धिक और सर्जनात्मक प्रक्रिया हो, जिसके द्वारा भारतीय संस्कृति और चिंतन को बल मिले। इस प्रक्रिया का अर्थ भारत पर पाश्चात्य संस्कृति को थोपना नहीं हो। इसलिए वह हिंदू धर्म में सुधार के पक्षधर और हिंदू धर्म के स्थान पर ईसाइयत लाने के विरोधी थे। उन्होंने ईसाई मिशनरियों की हिंदू धर्म और दर्शन पर अज्ञानपूर्ण आलोचनाओं का समुचित उत्तर दिया। उनका विश्वास था कि मौलिक रूप से सभी धर्म एक ही संदेश देते हैं कि उनके अनुयायी भाई-भाई हैं।

राममोहन राय ने 1828 में ब्रह्म सभा (बाद में ब्रह्म समाज) नाम की एक नई धार्मिक संस्था की स्थापना की, जिसका उद्देश्य हिंदू धर्म को स्वच्छ बनाना और एकेश्वरवाद की शिक्षा देना था। इस संस्था के दो आधार थे – तर्क शक्ति और वेद-उपनिषद। इसे अन्य धर्मों की शिक्षाओं को भी समाहित करना था।

राममोहन राय एक महान चिंतक और कर्मठ व्यक्ति थे। राष्ट्र-निर्माण का शायद ही कोई पहलू था, जिसे उन्होंने अछूता छोड़ा हो। वस्तुतः जैसे उन्होंने हिंदू धर्म को अंदर रहकर सुधारने का काम आरंभ किया, वैसे ही उन्होंने भारतीय समाज के सुधार के लिए आधार तैयार किया। सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध उनके आजीवन संघर्ष का सर्वोत्तम उदाहरण अमानवीय सती प्रथा को समाप्त करने का ऐतिहासिक आंदोलन था। उन्होंने 1818 में इस प्रश्न पर जनमत खड़ा करने का काम आरंभ किया। एक ओर प्राचीन शास्त्रों का प्रमाण देकर दिखलाया कि हिंदू धर्म सती प्रथा के विरोध में था, दूसरी ओर उन्होंने लोगों की तर्कशक्ति, मानवीयता और दया भाव की दुहाई दी। अंततः विलियम बेंटिंक ने सती प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया।

महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए उन्होंने मांग की कि उन्हें विरासत और संपत्ति संबंधी अधिकार दिए जाएं।

राममोहन राय आधुनिक शिक्षा के सबसे प्रारंभिक प्रचारकों में से थे। डेविड हेअर ने 1817 में कलकत्ता में प्रसिद्ध हिंदू कॉलेज की स्थापना की। इस कॉलेज की स्थापना और हेअर की अन्य शिक्षा संबंधी परियोजनाओं का राममोहन राय ने जोरदार समर्थन किया। उन्होंने कलकत्ता में 1817 से अपने खर्च से एक अंग्रेजी विद्यालय भी चलाया। 1825 में एक वेदांत कॉलेज की स्थापना की जिसमें भारतीय विद्या और पाश्चात्य सामाजिक और भौतिक विज्ञानों की पढ़ाई की सुविधाएं उपलब्ध थीं। शिक्षा के क्षेत्र में उन्हें स्कॉटिश धर्म प्रचारक अलेक्जेंडर डफ से बहुत सहायता मिली।

राममोहन राय बंगाल में बांग्ला भाषा को बौद्धिक संपर्क का माध्यम बनाने के लिए समान रूप से उत्सुक थे। उन्होंने बांग्ला व्याकरण पर एक पुस्तक की रचना की। उन्होंने जातिप्रथा की कट्टरता का विशेष रूप से विरोध किया, जो उनके अनुसार, 'हमारे बीच एकता के अभाव का स्रोत (कारण) रहा है'। राममोहन राय भारतीय पत्रकारिता के अग्रदूत थे। जनता के मध्य वैज्ञानिक, साहित्यिक और राजनीतिक ज्ञान के प्रचार, समसामयिक विषयों पर जनमत तैयार करने और सरकार के समक्ष जनता की मांगों और शिकायतों को देखने के लिए उन्होंने बांग्ला, फारसी, हिंदी और अंग्रेजी में पत्र-पत्रिकाएं निकालीं।

वह देश के राजनीतिक प्रश्नों पर जन-आंदोलन के प्रवर्तक भी थे। 'अंतरराष्ट्रीयता और राष्ट्रों के बीच मुक्त सहयोग में राममोहन राय का पक्का विश्वास था। सिंह की तरह राममोहन राय निडर थे।'

सामान्यतः विद्यालयों में छात्रों को राममोहन राय के विषय में उपरोक्त बातें पढ़ाई जाती हैं और ये बातें उनके मन-मस्तिष्क पर सदा अंकित रहती हैं। परंतु राममोहन राय के बारे में अनेक बातें नहीं बताई जाती हैं, जिस कारण से उनका संपूर्ण व्यक्तित्व उभर कर हमारे सामने नहीं आता है। सबसे पहले तो कहीं भी यह नहीं बताया जाता कि राममोहन राय अपनी जीविका के लिए काम क्या करते थे ? इसको छिपाने के पीछे संभवतः उद्देश्य यह हो सकता है कि पाठक उनकी महानता को लेकर संदेहशील हो सकते हैं। फिर भी हमें सच जानने का अधिकार है। वास्तव में राममोहन राय ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के सेवक थे। कंपनी की नौकरी करने के कारण ही कंपनी के अधिकारियों से उनका अतिघनिष्ठ संबंध विकसित हुआ जो अंत तक यथावत या प्रगाढ़तर ही हुआ।

वैसे तो राममोहन राय पर अनेक शोधकार्य हुए हैं, जिनको देखने से पता चलता है कि उनके विषय में सामान्य पाठकों से बहुत कुछ छिपाया गया है और इसके पीछे, जैसा कि हम देखेंगे एक सोची-समझी रणनीति रही है। राममोहन राय वास्तव में एक रहस्य हैं, जिनके बारे में अधिक

से अधिक जानना हमारे लिए और इस देश के लिए नितांत आवश्यक है। सबसे पहले मेरे सामने राजीव मल्होत्रा के कुछ वक्तव्य आए जो चौंकाने वाले थे। राजीव मल्होत्रा भारतीय-अमेरिकन हैं। पहले वह किसी आइटी कंपनी में कार्यरत थे। कालांतर में अपनी नौकरी छोड़कर भारत, भारतीय संस्कृति और हिंदू धर्म पर अध्ययन करने लगे। अपने अध्ययन के दौरान ही उन्हें कुछ ऐसे पश्चिमी विद्वानों के विचार जानने का अवसर मिला, जिनके अनुसार भारत का 'नया हिंदू धर्म' केवल दो सौ साल पुराना है और इसका प्रादुर्भाव राजा राममोहन राय जैसे राष्ट्रवादियों के द्वारा हुआ। पश्चिमी विद्वानों का यह भी कहना था कि यह 'नया हिंदू धर्म' ईसाइयत से प्रभावित है और यह भी कि इसका वेदों से कोई लेना-देना नहीं है। तात्पर्य यह कि आज का हमारा धर्म ईसाइयत से पोषित है। हिंदू धर्म को लेकर निर्मित ऐसे कृत्रिम विचारों ने राजीव मल्होत्रा को राममोहन राय पर गहन अध्ययन करने के लिए विवश किया और अंततः इन विचारों को खारिज करने के उद्देश्य से राजीव मल्होत्रा ने एक पुस्तक लिखी – 'IndraÓs Net' (इंद्र का जाल)।

राजीव मल्होत्रा ने राममोहन राय के विषय में जो कुछ कहा उसका सार आगे दिया जा रहा है :

'राममोहन राय ने हिंदू धर्म को ठीक से नहीं समझा। उलटे हिंदू धर्म में बहुत कुछ बाहर से लेकर मिला दिया गया और इस प्रकार एक तरह की खिचड़ी बनाई गई। और यह खिचड़ी अकारण नहीं है। वास्तव में राममोहन राय कुख्यात बैप्टिस्ट एवैंजेलिस्ट (इंजीली) विलियम केरी, जिसने श्रीरामपुर सेमिनेरी की शुरूआत की, के निकट के साथी और सहयोगी थे। विलियम केरी घोर हिंदू विरोधी था। पर इससे भी दुखद बात यह थी कि राममोहन राय ने संस्कृत शिक्षा प्रणाली के स्थान पर यूरोपीय शिक्षा व्यवस्था अपनाने की वकालत की। संस्कृत शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध राममोहन राय ने इंग्लैंड में अभियान चलाया। 1823 में राममोहन राय ने भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल को एक पत्र लिखा कि संस्कृत शिक्षा प्रणाली को अपनाने से हमारा समाज अंधकार में ही रहेगा। संस्कृत साहित्य में तर्कशास्त्र का अभाव है। इसमें विज्ञान नहीं है। संस्कृत के व्याकरण को व्यर्थ बताया। अपने पत्र के अंत में राममोहन राय स्पष्ट रूप से कहते हैं कि कुछ प्रबुद्ध यूरोपीयों को भारत बुलाया जाए और पश्चिमी शिक्षा शुरू की जाए ताकि हमारे देश के लोगों में ज्ञान-विज्ञान का संचार हो। कुल-मिलाकर उनकी बातों से लगता है कि वह मान चुके थे कि भारत असभ्य है और यदि अंग्रेजों की कृपा होगी तभी यहां सभ्यता पनपेगी। हम लोग व्यर्थ ही मैकॉले को अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी शिक्षा प्रणाली को भारत में लागू करने और भारतीय शिक्षा को संस्कृत विहीन करने के लिए उत्तरदायी मानते हैं। जबकि सच तो यह है कि जब मैकॉले ने अपना वह कुख्यात भाषण ब्रिटेन की संसद में दिया जिसमें उसने भारतीय शिक्षा पद्धति की धज्जियां उड़ाईं और अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था का गुणगान किया उससे बारह वर्ष पहले ही राय वैसी ही बातें गवर्नर जनरल को संबोधित अपने पत्र में लिख चुके थे। इसलिए एक प्रकार से शिक्षा संबंधी विचार तो मैकॉले और अंग्रेजों को राय की ओर से एक उपहार की तरह थे।'

राजीव मल्होत्रा आगे कहते हैं कि यह कितना बड़ा संयोग है कि जिस समय भारत में संस्कृत भाषा और साहित्य के विरुद्ध अभियान चलाया जा रहा था, ठीक उसी समय पूरे यूरोप में संस्कृत में समाहित ज्ञान को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा पनप रही थी। उन्हीं दिनों सारे यूरोप के प्रमुख विश्वविद्यालयों में संस्कृत पीठ की स्थापना हुई और संस्कृत के सागर से ज्ञान को निकालने का काम शुरू हुआ। और इस अपूर्व ज्ञान ने उनके विचारों को प्रभावित भी किया।

राजीव मल्होत्रा इस प्रश्न से भी जूझते हैं कि क्या संस्कृत के आधार पर भारत आधुनिक और वैज्ञानिक सोच वाला देश नहीं बन सकता था? उनका उत्तर है कि जापान और चीन दो ऐसे गैर-यूरोपीय देश हैं, जिनमें यूरोप की तरह ही विज्ञान का प्रसार हुआ और वे आधुनिक भी बने, लेकिन यह सब उनकी अपनी भाषाओं के माध्यम से ही हुआ। राममोहन राय ने 1823 में गवर्नर जनरल को पत्र लिखा और 1835 में पश्चिमी शिक्षा प्रणाली लागू हुई। पर लगभग एक सौ बारह साल बाद भारत स्वतंत्र हुआ। इस प्रकार नई शिक्षा प्रणाली का कोई शुभ परिणाम जल्दी नहीं मिला। न ही अंग्रेजों ने हमें वैज्ञानिक सोच वाला देश बनने दिया। सबसे बड़ी त्रासदी तो यह है कि तकनीकी शिक्षा में भारत अत्यंत पिछड़ा रहा, क्योंकि तकनीकी संस्थान नहीं खोले गए। वैज्ञानिक अनुसंधान और शोध के नाम पर तो कुछ भी नहीं हुआ। जो कुछ भी विज्ञान के क्षेत्र में उल्लेखनीय हुआ है वह स्वतंत्रता के बाद ही हुआ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वास्तव में अंग्रेज हमें विज्ञान में आगे नहीं बढ़ने देना चाहते थे।

राजीव मल्होत्रा ने राममोहन राय के विषय में एक और चौंकाने वाली बात बताई और वह यह कि राममोहन राय यूनिटेरियन चर्च के अनुयायी अर्थात ईसाई बन गए थे। इंग्लैंड में उन्हें किंग विलियम चतुर्थ के राज्याभिषेक समारोह में आमंत्रित किया गया, जिसमें अनेक देशों के राष्ट्रप्रमुख और राजदूत जैसे गणमान्य माननीय उपस्थित थे। इस राजकीय सम्मान के पीछे भी बहुत सीमा तक उनके ईसाई होने का हाथ है। राजीव मल्होत्रा ने यह भी बताया कि राममोहन राय की इंग्लैंड में ही मृत्यु हुई और उन्हें वहीं दफनाया गया। आज भी वहां उनकी कब्र है।

राजीव मल्होत्रा के बाद संयोगवश हमें जस्टोपिल नामक एक और शोधार्थी मिले, जिहोंने राममोहन राय पर 2002 में एक शोधपत्र लिखा। जस्टोपिल ने राममोहन राय के इंग्लैंड प्रवास का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। जस्टोपिल, राममोहन राय और अंग्रेज अधिकारियों के बीच के निकट संबंध की शुरुआत कैसे हुई इस बारे में लिखते हैं कि राममोहन राय ने अंग्रेज अधिकारियों का मुंशी या सचिव और सांस्कृतिक मध्यस्थ या जस्टोपिल के शब्दों में 'cultural broker' बनने के लिए अपनी फारसी शिक्षा और सांस्कृतिक ज्ञान का उपयोग किया। राममोहन राय ने जिन अधिकारियों के साथ काम किया उनमें सर्वपमुख था जॉन डिग्बी। डिग्बी के कारण ही राममोहन राय की ईसाइयत और यूरोपीय ज्ञान के प्रति जिज्ञासा बढ़ी। अनेक भाषाओं में निष्णात होने और उत्तर भारतीय न्यायालय की कार्यप्रणाली से परिचित होने के कारण अंग्रेज अधिकारियों में राममोहन राय की मांग सदा बनी रहती थी। राममोहन राय अपने यूरोपीय संपर्कों का लाभ उठाकर नई आर्थिक गतिविधियों में भाग लेने लगे और इस प्रकार उन्होंने प्रचुर धन कमाया और ईस्ट इंडिया कंपनी तक में भी उन्होंने पैसा लगाया। इसके अलावा अपने अर्जित धन से उन्होंने ग्रामीण संपत्ति भी खरीदी। इस प्रकार अपने समय के वह पर्याप्त समृद्ध व्यक्ति थे और यह सब उनके अंग्रेजों के साथ के घनिष्ठ संबंध के कारण संभव हुआ।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि राममोहन राय ने अपने जीवन के अंतिम ढाई वर्ष इंग्लैंड में बिताए। इस अवधि में इंग्लैंड में उन्हें अतिप्रतिष्ठित व्यक्ति (सेलेब्रिटी) के रूप में सर्वत्र सम्मान मिला। जैसा कि पहले ही बताया गया है, उन्हें किंग विलियम चतुर्थ के राज्याभिषेक समारोह में आमंत्रित किया गया, जिसमें अनेक देशों के राजा और राजदूत उपस्थित थे। इतना ही नहीं उन्हें ब्रिटेन की संसद का सदस्य बनाने की भी तैयारी चल रही थी। पर उसके लिए एक शर्त यह थी कि तब के कानून के अनुसार वहां वही व्यक्ति संसद सदस्य बन सकता था जो ईसाई हो। राममोहन राय यह अर्हता भी पूरी करते थे, क्योंकि वह यूनीटेरियन चर्च के सदस्य थे।

सितंबर 1833 में उनकी मृत्यु वहीं हो गई और उनके शव को वहीं ब्रिस्टल शहर में दफना दिया गया। ऐसा कहा जाता है कि तब ब्रिटेन में शव के दाह-संस्कार का कोई कानून नहीं था। परंतु ऐसा भी संभव है कि चूंकि वह ईसाई बन चुके थे, इसलिए उन्हें दफना दिया गया हो।

उत्सुकतावश सभी जानना चाहेंगे कि आखिर वह कौन की बात थी जिसके लिए राममोहन राय इंग्लैंड गए। वास्तव में राममोहन राय अनेक कारणों से इंग्लैंड गए। सर्वप्रमुख कारण तो था नाममात्र के मुगल बादशाह अकबर शाह के वजीफे या पेंशन की राशि को बढ़वाने के लिए अंग्रेजी सरकार से पैरवी करना। इस विषय में विलियम डैलरिंपल विस्तार से जानकारी देते हैं। जैसा कि सर्वविदित है, तब तक मुगल बादशाह का शासन दिल्ली शहर तो छोड़िए अपने किले पर भी पूरी तरह नहीं था, क्योंकि किले को लेकर भी सारे फैसले बादशाह नहीं कर सकता था। वहां ब्रिटिश रेजिडेंट कुंडली मार कर चौबीसों घंटे बैठा रहता था। बादशाह स्वयं अंग्रेजों की पेंशन पर पलता था। लेकिन पेंशन की राशि कम पड़ती थी। इसलिए अकबर शाह ने राममोहन राय को इंग्लैंड भेजा। लेकिन यह घटना विवादास्पद बन गई। हुआ यह कि अकबर बादशाह अपने पहले बेट– बहादुरशाह जफर, जो ज्येष्ट होने के कारण उत्तराधिकारी और पिता की मृत्यु के बाद बादशाह बन सकता था, के स्थान पर अपने दूसरे और बदचलन बेटे– मिर्जा जहांगीर को बादशाह बनाना चाह रहा था। पर बादशाह तो नाम का बादशाह था और सारे फैसले अंगेजों द्वारा और ब्रिटिश रेजिडेंट की अनुशंसा पर ही लिए जाते थे, इसलिए अकबर शाह ने ब्रिटिश रेजिडेंट आर्चिबाल्ड सीटन को एक पत्र लिखा, जिसमें उसने बहादुरशाह की बुराई और मिर्जा जहांगीर की बड़ाई की। पर सीटन सच्चाई जानता था, इसलिए उसने अपने कलकत्ता स्थित मुख्यालय को पत्र लिखकर बताया कि बहादुरशाह बहुत अच्छे किरदार के हैं। लेकिन चूंकि वह बादशाह के चहेते नहीं है, इसलिए अकबर शाह उनको अनदेखा करके मिर्जा जहांगीर को बढ़ावा दे रहे हैं, जिसको वह बहुत चाहते हैं। यही वह समय था जब राममोहन राय को अकबर शाह ने अपना वजीफा बढ़वाने का आवेदन देकर इंग्लैंड भेजा। पर क्योंकि उत्तराधिकार का विषय ज्वलंत था, इसलिए बहादुरशाह को संदेह हो गया कि उसे विरासत से वंचित करने के लिए ऐसा किया गया है और प्रतिक्रियास्वरूप उसने राममोहन राय और गवर्नर जनरल दोनों को बहुत आक्रोश भरे पत्र लिखे। राय ने इस आरोप को गलत बताते हुए उत्तर दिया, 'जो लोग अपना ही अच्छा बुरा नहीं समझ सकते, दूसरों का क्या समझेंगे।' (डैलरिंपल पृ 48)

इस घटना से इस बात का पता चलता है कि राममोहन राय की पहुंच मुगल बादशाह से लेकर अंग्रेजों के शीर्ष तक थी। मुगलों ने उन्हें 'राजा' की उपाधि दी और संभवतः अंग्रेजों से उन्हें 'रायबहादुर' की उपाधि मिली होगी, क्योंकि उनकी कब्र पर उनका जो नाम लिखा है, वह है– 'राजा राममोहन रायबहादुर'। इस प्रकार वह अत्यंत प्रभावशाली व्यक्ति थे। उनकी इंग्लैंड यात्रा के विषय में दूसरी बात यह है कि अकबर शाह के खर्चे पर वह इंग्लैंड गए। पर इंग्लैंड में उनके उद्देश्य या लक्ष्य बहुत बड़े थे। उन्हें तो ब्रिटेन की संसद का सदस्य बनना था और वहां लोकप्रिय भी होना था। वहां के लोग उन्हें इसी कारण इतना सम्मान देते थे कि बंगाल के सबसे बड़े बौद्धिक और प्रतिष्ठित व्यक्ति ने ईसाइयत स्वीकार की है। यह वास्तव में ईसाइयत की सबसे बड़ी विजय थी और राममोहन राय उस विजय के प्रतीक। अंग्रेजों को लगता था कि जब इतना बड़ा व्यक्ति ईसाइयत को स्वीकार कर चुका है तो अब तो संपूर्ण भारत में ईसाइयत फैलाना केवल समय की बात है। इंग्लैंड प्रवास के बाद राममोहन राय की योजना अमेरिका जाने की थी, जिसका उद्देश्य स्पष्ट नहीं है। वह अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्ध होना चाहते थे। यह भी संभव है कि अमेरिका जाने के लिए उनके यूनिटेरियन मित्रों ने उन्हें प्रोत्साहित किया

हो, क्योंकि अमेरिका में यूनिटेरियन का इंग्लैंड से कहीं अधिक प्रभाव था।

जस्टोपिल बताते हैं कि ये यूनिटेरियन ही थे, जिनसे बहुत पहले ही राममोहन राय का संपर्क स्थापित हुआ। अपने लेखों के माध्यम से ईसाई मत की पारंपरिक धारणाओं पर यूनिटेरियन की ही तरह राममोहन राय ने भी प्रहार किया। इसका फल यह हुआ कि वह इंग्लैंड के यूनिटेरियन के मध्य लोकप्रिय हो गए। यूनिटेरियन को यह भी लगा कि जैसे वे अपने मजहब में सुधार के लिए संघर्षरत हैं, वैसे ही राममोहन राय भी हिंदू धर्म में सुधार के लिए उद्धत हैं।

इंग्लिश हेरिटेज से हमें पता चलता है कि उन्नीसवीं शताब्दी का इंग्लैंड पूरी तरह ईसाई देश था। वहां कुछ यहूदियों (जिनकी संख्या 1880 में 60,000) को छोड़कर शेष सभी ईसाई थे। ईसाइयों में आधे से अधिक 'चर्च ऑफ इंग्लैंड', जो इंग्लैंड का आधिकारिक या सरकारी चर्च था, के अनुयायी थे। इनमें भी दो तरह के अनुयायी थे– 'इंजीली' या 'एवैंजेलिकल' और 'हाई चर्चमेन', जिन्हें हम सुविधा के लिए 'बड़े गिरजावाले' कह सकते हैं। जहां इंजीली उपदेशों और बाइबिल पर ध्यान देते थे वहीं 'बड़े गिरजावाले' कर्मकांडी थे। पर घोर आश्चर्य की बात है कि 1820 से पहले जो ईसाई 'चर्च ऑफ इंग्लैंड' के अनुयायी नहीं थे अर्थात कैथोलिक और मेथोडिस्ट थे, उन्हें अधिकतर सार्वजनिक पदों तथा ऑक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिज की शिक्षा से भी वंचित रखा गया था। पहली बार 1820 में कानून बनाकर कैथोलिक और मेथोडिस्ट को भी ये सुविधाएं दी गईं। 1851 में की गई जनगणना से पता चला कि इंग्लैंड की एक तिहाई से भी कम आबादी 'चर्च ऑफ इंग्लैंड' में जाती है। इसका परिणाम यह हुआ कि गैर-'चर्च ऑफ इंग्लैंड' अनुयायियों को और भी सुविधाएं दी गईं। इसी शताब्दी में पहली बार बहुत बड़ी संख्या में ऐसे लोग भी सामने आए जिन्होंने अपने आप को किसी भी मजहबी विश्वास से नहीं जोड़ा। और भी आश्चर्य की बात तो यह है कि पहली बार इंग्लैंड बौद्ध और हिंदू धर्मों के प्रभाव में आकर अध्यात्मवाद से परिचित हुआ और इसके परिणामस्वरूप थियोसोफी जैसी संस्थाओं का अभ्युदय हुआ।

इसी उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रभाव में यूनिटेरियन नाम का ईसाइयों का एक समूह चर्चा में आया। कहा जाता है राममोहन राय इसी यूनिटेरियन चर्च के अनुयायी बने। यूनिटेरियन अनुयायी मजहबी विश्वासों को तर्क और विवेक की कसौटी पर कसने लगे। ईसाई मत में 'ट्रिनिटी' की उपस्थिति उन्हें सबसे बड़ी विसंगति दिखाई दी। 'ट्रिनिटी' पर विश्वास करने वाले मानते हैं कि गॉड के तीन पृथक स्वरूप हैं – पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा। यूनिटेरियन ने इसी विधान पर प्रहार किया। उनका कहना था कि गॉड एक ही है। एक गॉड को मानने के कारण ही वे यूनिटेरियन या एक ईश्वरवादी अर्थात एकेश्वरवादी कहलाए। यूनिटेरियन का मानना था कि ईसा मसीह की नैतिक शिक्षा गॉड द्वारा प्रेरित है और वह रक्षक भी हैं। परंतु वह न तो दैवीय हैं और न ही गॉड के अवतार। इस प्रकार यूनिटेरियन चर्च ने पारंपरिक धारणाओं को न केवल चुनौती दी, बल्कि तर्क, विवेकशील विचार, विज्ञान तथा दर्शन को ईश्वर में विश्वास से जोड़ा।

जस्टोपिल बताते हैं कि राममोहन राय इंग्लैंड में कितने लोकप्रिय या महत्वपूर्ण थे कि टॉमस मैकॉले जैसा व्यक्ति एक पूरी शाम उनकी प्रतीक्षा में बैठा रहा, जब कि वह नहीं आए और मैकॉले पूरी तरह निराश हुआ। राममोहन राय के इंग्लैंड प्रवास के दौरान एक बेंथम नाम के प्राणी ने राममोहन राय को ब्रिटिश इंडिया के एक प्रतिनिधि, एक हाफ कास्ट (अर्धमनुष्य), और एक निग्रो (काला निंदनीय मनुष्य) के रूप में संसद सदस्य बनाने का प्रस्ताव रखा। उसका कहना था कि इससे गोरे होने के कारण हमारे प्रति जो पूर्वाग्रह हैं उनमें कमी आएगी और इससे अन्य

विजित लोगों में प्रोत्साहन और आशा का संचार होगा। लेकिन जस्टोपिल का सुझाव है कि बेंथम की बातों को संदेह की दृष्टि से देखा जाना चाहिए। फिर भी यह सच है कि राममोहन राय ने वहां के संविधान विशेषज्ञ सी.डब्ल्यू.डब्ल्यू. विन से स्वयं इस बारे में सलाह ली और विन ने उन्हें बताया कि ब्रिटिश भारत का हिस्सा होने के कारण वह संसद सदस्य के लिए प्रत्याशी बन सकते हैं। यहां ध्यातव्य है कि यह विन ही था जिसने 1826 में सभी गैर-ईसाइयों को भारत में ज्यूरी बनने के लिए अयोग्य ठहरा दिया था। परंतु बाद में, संभवतः राममोहन राय द्वारा तैयार की गई एक याचिका और यह जानकर कि भारत में अब अंग्रेजी जानने वाले हैं, उसने अपना मत बदल लिया था।

जस्टोपिल बताते हैं कि राममोहन राय की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यह था कि इंग्लैंड के लोग उन्हें धर्मपरिवर्तित ईसाई मानते थे। जस्टोपिल स्वयं उन्हें यूनिटेरियन मानते हैं। रॉबर्ट ऐस्पलैंड उन यूनिटेरियन में मुख्य था जिन्होंने राममोहन राय को इंग्लैंड में लोकप्रिय बनाने का बहुत प्रयास किया। जस्टोपिल लिखते हैं कि राममोहन राय की धार्मिक समझ उन्हें एक सार्वभौमिक धर्म की ओर ले गई, जिसमें इस्लामी तार्किक क्षमता, हिंदू वेदांत और उग्र ईसाई परंपरा तीनों का योगदान था। लेकिन राममोहन राय के बारे में यह भी कहा गया है कि बहुभाषाविद होने के कारण अलग-अलग भाषाओं में वह अलग-अलग तरह से धर्मों की विवेचना करते थे। बांग्ला में लिखते समय वह अधिक हिंदू, फारसी में अधिक मुसलमान और अंग्रेजी में अधिक ईसाई की तरह लिखते थे। उनके अंग्रेजी लेखों से उनकी यूनिटेरियन से निकटता परिलक्षित होती है।इसका अर्थ यह हुआ कि वह अपने पाठक की अभिरुचि के हिसाब से लिखते थे। यदि सबको जोड़कर देखा जाए तो राममोहन राय एक कंफ्यूज्ड व्यक्ति की तरह दिखते हैं। पर जस्टोपिल का सुझाव है कि ऐसा वह जानबूझकर करते थे, क्योंकि ब्रिटेन का संसद सदस्य बनने के लिए यह कंफ्यूजन बहुत आवश्यक था।

यूनिटेरियन से राममोहन राय की निकटता उनके इंग्लैंड प्रवास से लगभग एक दशक पहले ही कलकत्ता में आरंभ हो चुकी थी। यहां तक कि उनके द्वारा 1820 में लिखा गया 'द प्रेसेप्ट्स ऑफ जीसस' में यूनिटेरियन चर्च के मुख्य बिंदु समाहित थे। उन्होंने बंगाल के बैप्टिस्ट मिशनरी को सुझाया भी कि मिशनरी को चाहिए कि 'न्यू टेस्टामेंट' की धार्मिक और नैतिक बातों को सरलतापूर्वक भारतीय समाज में पहुंचाना चाहिए। इतना ही नहीं, इसके लिए उन्होंने स्वयं सरल उपदेशों को चुन-चुनकर प्रस्तुत किया। किलिंगले का मानना था कि 'द प्रेसेप्ट्स ऑफ जीसस' में ही राममोहन राय ने स्वयं को यूनिटेरियन से जोड़ लिया था। वहीं ऐसप्लैंड का कहना था कि राय एक हिंदू यूनिटेरियन सुधारक हैं।

कलकत्ता के निकट श्रीरामपुर स्थित बैप्टिस्ट मिशनरी के साथ तीन वर्षों तक राममोहन राय का शास्त्रार्थ चलता रहा और अंततोगत्वा, कहा जाता है कि विलियम ऐडम नाम के एक मिशनरी को उन्होंने यूनिटेरियन के निकट (अर्थात ऐरियन) ला खड़ा किया। इसकी इंग्लैंड में बड़ी जोरदार प्रतिक्रिया हुई। यहां ध्यातव्य है कि ईस्ट इंडिया कंपनी किसी भी ईसाई मिशनरी को अपने क्षेत्र में नहीं आने देती थी। इसलिए श्रीरामपुर, जो कि डेनिश कंपनी के अधीन था वहां 1799 में पहली बैप्टिस्ट मिशनरी स्थापित हुई। जब 1813 के चार्टर के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने ईसाई मिशनरियों को भारत में आने की अनुमति दे दी तब दूसरी बैप्टिस्ट मिशनरी कलकत्ता के पास स्थापित हुई और बाद में ऐंग्लिकन मिशन भी आ गया। अब इन तीन मिशनरियों के बीच की प्रतिस्पर्धा के कारण राममोहन राय का महत्व बहुत बढ़ गया। विशेषकर बैप्टिस्ट इस बात को लेकर परेशान थे कि एक अतिमहत्वपूर्ण व्यक्ति उनके हाथ से निकल

रहे हैं। वे इसलिए भी परेशान थे कि उनके बीस वर्षों के अथक प्रयासों के बावजूद केवल सात सौ लोग ही ईसाई बनाए जा सके थे, जिनमें तीन सौ ऐंग्लो-इंडियन और शेष अत्यंत निर्धन लोग थे, जिन्हें ईसाइयत से कम और आर्थिक लाभ से अधिक मतलब था। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि वे जी-जान से राममोहन राय से तर्क-वितर्क करने लगे।

पूरी 18वीं शताब्दी में अनेक कारणों से यूनिटेरियन एक प्रताड़ित समूह थे। उन पर ईशनिंदा के आरोप लगते थे। कैथोलिक की तरह उन्हें भी बहुत सारी सुविधाओं से वंचित रखा गया था। इसलिए यूनिटेरियन को राममोहन राय के रूप में एक ऐसा व्यक्ति मिला, जिसके सहारे वे अपनी स्थिति को बदल सकते थे। इंग्लैंड के यूनिटेरियन द्वारा राममोहन राय को ईसाई मत की यूनिटेरियन शाखा के अनुयायी होने का ठोस आधार राममोहन राय के स्वयं के क्रियाकलाप थे। राममोहन राय ने अनेक यूरोपीयों और भारतीयों को मिलाकर 1821 में 'कलकत्ता यूनिटेरियन समिति' के गठन में सक्रिय भूमिका निभाई। कालांतर में इस समिति ने एक यूनिटेरियन छापाखाना और एक पुस्तकालय स्थापित किया और विधिवत चर्च की प्रार्थना की शुरुआत की। उनकी योजना एक चैपल बनाने की भी थी। इन क्रियाकलापों की जानकारी जब ऐंग्लो-अमेरिकन यूनिटेरियन को हुई तब वे खुशी से झूम उठे। इसके बाद इंग्लैंड स्थित यूनिटेरियन से राममोहन राय के साथ बौद्धिक विचार-विमर्श आरंभ हुआ। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि इंग्लैंड जाने से पहले ही राममोहन राय इंग्लैंड के बौद्धिक वर्ग में एक परिचित नाम थे।

1813 में संसद में यूनिटेरियनों के प्रयास से एक कानून पास हुआ, जिसके फलस्वरूप ट्रिनिटी-विरोधियों के ऊपर ईशनिंदा की जो तलवार लटक रही थी, उससे छुटकारा मिल गया और 1827 में एक तत्कालीन कानून को समाप्त करके यूनिटेरियन सहित सभी ईसाइयों को संसद सदस्य बनने का मार्ग प्रशस्त हो गया। इस प्रकार अब कोई भी यूनिटेरियन संसद सदस्य बनने की पात्रता रखता था। लेकिन संसद सदस्य को अग्रलिखित शपथ लेनी थी – 'एक ईसाई के सच्चे विश्वास के नाम'। इसका अर्थ यह निकाला गया कि कोई भी गैर-ईसाई यहां तक कि इंग्लैंड में रह रहे यहूदी भी संसद सदस्य नहीं बन सकते थे। और चूंकि राममोहन राय संसद सदस्य बनने के लिए प्रयासरत थे, इसलिए इंग्लैंड में उन्हें स्पष्ट रूप से ईसाई ही माना जाता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने इंग्लैंड प्रवास के दौरान राममोहन राय ने एक बार भी अपने को हिन्दू की तरह प्रस्तुत नहीं किया, न ही उन्होंने हिंदू धर्म, हिंदू दर्शन और हिंदू संस्कृति की चर्चा की। उन्होंने हिंदू धर्म की विशेषताओं से भी अंग्रेजों को परिचित कराने का प्रयास नहीं किया। लगभग साठ साल बाद उसी बंगाल से निकले स्वामी विवेकानंद ने जैसा काम सारे संसार में किया, वैसा कुछ भी राममोहन राय ने इंग्लैंड में नहीं किया।

यद्यपि राममोहन राय को संस्कृत का ज्ञान था, फिर भी उन्होंने उस समय संस्कृत का विरोध ही किया। यह बात मैकॉले द्वारा अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम घोषित करने के लगभग बारह वर्ष पूर्व की बात है। सच तो यह है कि मैकॉले का काम अत्यंत आसान था क्योंकि उसे पहले से ही पता था कि राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली के पक्षधर हैं। यह भारत और इसकी संस्कृति के साथ घोर अन्याय था। इससे पता चलता है कि या तो राममोहन राय का संस्कृत ज्ञान सतही था या शिक्षा व्यवस्था की समझ कम थी। जब यह स्वयं सिद्ध है कि अपनी भाषा में शिक्षा का कोई विकल्प नहीं है तब उन्होंने अंग्रेजी का पक्ष क्यों लिया ? यदि उन्हें संस्कृत से कोई समस्या थी, तो स्थानीय भाषाओं में ही शिक्षा देने का उपक्रम किया जाता। ऐसे में बंगाल

में उनकी बांग्ला शिक्षा का माध्यम बन सकती थी। इससे यह भी पता चलता है कि भारत की संस्कृति से वह किस सीमा तक परिचित थे ! उनका ऐसा मानना कि 'केवल पश्चिमी संस्कृति से ही भारतीय समाज का पुनरुत्थान संभव है' पूरी तरह दर्शाता है कि उन्हें भारतीय संस्कृति की बहुत कच्ची समझ थी।

उनकी बहुचर्चित उपलब्धि सती प्रथा को समाप्त करने के कारण है। बल्कि यूं कहें कि उनकी प्रतिष्ठा और ख्याति का यह सबसे बड़ा आधार है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनके साथ-साथ विलियम बेंटिंक भी इस कारण अमर हो गया है। उसे भी हम भारत के समाज सुधारक के रूप में सम्मान देते हैं, क्योंकि हमें इसी प्रकार पढ़ाया गया है। पर हमें 'सती का सच' जानना चाहिए। सर्वप्रथम तो हमें यह पता होना चाहिए कि भारतीय समाज का सुधार न तो ईस्ट इंडिया कंपनी की नीति थी और न ही कालांतर में ब्रिटिश सरकार की। इसलिए हमें इस विषय की गहन पड़ताल करनी चाहिए कि 'सती का सच' क्या है।

मीनाक्षी जैन ने भारत में सती प्रथा पर लंबा शोध किया है। उनके शोध का आधार हैं – शिलालेख, स्थापत्य संबंधी साक्ष्य और आंखो देखी रिपोर्ट। उन्हें सबसे पहला सती संबंधी प्रमाण अलेक्जेंडर के समय का मिला। अलेक्जेंडर का एक भारतीय सेनापति था– शशि गुप्त, जिसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद उसकी दो विधवा पत्नियों में इस बात पर विवाद आरंभ हुआ कि किसे पति की चिता पर जलना होगा। यह अलेक्जेंडर के सैनिकों द्वारा देखी गई घटना पर आधारित है। इसके आठ सौ साल बाद अर्थात पांचवीं शताब्दी में मीनाक्षी जैन को सती संबंधी एक और घटना के बारे में जानकारी मिली। यदि इन दोनों घटनाओं को यदि पूरी तरह सच मान लिया जाए तब भी आठ सौ साल में सिर्फ दो घटनाओं के बारे में ही जानकारी मिली।

लेकिन अचानक 15वीं शताब्दी के अंत से जब से यूरोपीय भारत आने लगे सती संबंधी जानकारी में वृद्धि देखी गई। वास्को डि गामा के भारत आने के बाद से यूरोप में भारत के विषय में जानने की उत्सुकता बढ़ी। उन्हें सती जैसी घटना बहुत अजीब या अनोखी लगी। इसलिए उनकी मांग पर यूरोपीय यात्री सती के विषय में लिखने लगे। उस समय के यात्रा वृत्तांतों की एक विशेषता यह है कि लगभग सभी वृत्तांतों में एक-सी बात होती थी और सती संबंधी घटनाओं की संख्या भी एक-सी होती थी। इससे पता चलता है वृत्तांत एक-दूसरे की नकल हुआ करते थे। इनमें कहीं भी सती संबंधी घटनाओं के स्थान विशेष या क्षेत्र विशेष का उल्लेख नहीं होता था। इससे स्पष्ट होता है कि वे यूरोपीयों की मांग पर यूं ही सती संबंधी बातें लिख देते थे। इस प्रकार न तो वे लेखकीय दृष्टि से बहुत धीर-गंभीर दिखते हैं और न ही उनका लेखन ही गंभीर और शोधपरक है। फिर भी, जैसा कि मीनाक्षी जैन कहती हैं, तब तक सती की संख्या अत्यंत कम होती थी।

परंतु सती को लेकर उपलब्ध जानकारी में अप्रत्याशित रूप से उछाल आई 18-19वीं शताब्दी में। अब भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन आरंभ हो चुका था और ईसाई मिशनरी भारत को धर्मांतरण की उर्वर भूमि मानकर 'आत्माओं की फसल काटने' के लिए यहां आने को व्यग्र थे। परंतु तब ईस्ट इंडिया कंपनी का एकमात्र उद्देश्य येन केन प्रकारेण केवल और केवल पैसा बनाना था, जिसमें उन्हें ईसाई मिशनरी की संभावित गतिविधियां एक अवरोध की तरह दिखती थीं। इसलिए ईसाई मिशनरियों को भारत में प्रवेश की अनुमति नहीं थी। अगर वे कभी आते भी थे तो, मीनाक्षी जैन के शब्दों में, 'अगले ही जहाज से उन्हें वापस भेज दिया जाता था'। इसके परिणामस्वरूप ईसाई मिशनरियों ने ब्रिटिश संसद में कहना शुरू किया कि भारत में अनेक अमानवीय सामाजिक कुरीतियां हैं और उनको समाप्त करने के लिए हमारा

वहां जाना बहुत आवश्यक है। अब एकाएक सती होने वाली महिलाओं की संख्या हजारों और लाखों तक पहुंच गई। लेकिन सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसी जानकारी केवल बंगाल से ही आती थी। लेकिन विडंबना तो यह है कि बंगाल में सती प्रथा प्रचलन में नहीं थी।

मीनाक्षी जैन के अतिरिक्त रविशंकर ने 'भारत में यूरोपीय यात्री : उद्देश्य, वर्णन और यथार्थ' नामक अपनी पुस्तक में यूरोपीय यात्रियों ने भारत के विषय में जो कुछ लिखा है उसका विशद विश्लेषण किया है। चूंकि वे यात्री सती पर तो अनिवार्यतः लिखते ही थे, इसलिए उन यात्रियों द्वारा दी गई सती संबंधी जानकारी और रविशंकर का विश्लेषण दोनों इस लेख के लिए प्रासंगिक और उपयोगी हैं। रविशंकर लिखते हैं कि मार्को पोलो और सत्रहवीं शताब्दी तक के यूरोपीय यात्री भारत के वर्णन में शहरों और राज्यों के जो नाम बताते हैं, वे काफी अस्पष्ट हैं। अधिकतर नामों को समझने के लिए अनुमान लगाना पड़ता है। कई बार वे अनुमान सच भी होते हैं, परंतु कई बार गलत भी हो सकते हैं। यही समस्या उनके शेष वर्णनों के साथ भी है। भारतीय रीति-रिवाजों के प्रति उनमें उत्सुकता तो थी, परंतु उन्हें समझने का उनके पास अवकाश और मानस नहीं था। इसलिए वे सुनी-सुनाई बातों को भी प्रत्यक्षद्रष्टा की भांति लिखते गए। और उन कहानियों को चटपटा बनाने के लिए उनमें नमक-मिर्च भी लगाते रहे। मार्को पोलो कई बार ऐसे वर्णन करता है, जो सुनने में ही अविश्वसनीय लगते हैं। मार्को पोलो लिखता है, 'मैं इस राजा (मलाबार क्षेत्र का कोई) के बारे में एक बात बताऊंगा। उसके पास बड़ी संख्या में विश्वसनीय सामंत हैं। वे हर जगह उसके साथ रहते हैं, दरबार में, घूमते समय, राजा जहां जाता है, ये साथ जाते हैं। जब राजा की मृत्यु हो जाती है, तो वे उसके साथ उसकी चिता में जल मरते हैं, ताकि दूसरी दुनिया में भी उसके साथ रह सकें।' रविशंकर का विचार है कि 'इसे सती प्रथा के यूरोपीय वर्णन का प्रारंभ कहा जा सकता है।' इस घटना में संभवतः कोई सत्यता नहीं है, क्योंकि अब तक इस प्रकार का वर्णन भारत के साहित्य में नहीं देखा गया है।

मार्को पोलो अब उस सती का वर्णन करता है, जिसे हम सती मानते हैं। वह लिखता है, 'मैं तुम्हें बताना चाहता हूं कि इस राज्य में एक और रिवाज है। जब कोई व्यक्ति मर जाता है और उसका शरीर जलाया जाता है, तो उसकी पत्नी उसकी चिता में कूद जाती है और साथ में जल जाती है। जो स्त्री ऐसा करती है, उसे काफी प्रतिष्ठा मिलती है और मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूं कि ऐसी स्त्रियां काफी संख्या में हैं।'

रविशंकर लिखते हैं, 'हम समझ सकते हैं कि मार्को पोलो के इस वर्णन में कितनी सत्यता होगी ! ऊपर के दोनों तथ्यों को सामने रखें तो साफ हो जाता है कि वह केवल कुछेक कथाओं और अफवाहों के सहारे भारत का एक रोचक उपन्यासात्मक वर्णन तैयार कर रहा था, जो यूरोप के लोगों को पढ़ने में अजीब किंतु मजेदार लगे। परंतु उसके इन वर्णनों ने उसके बाद आने वाले यूरोपीय यात्रियों के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी। आगे चलकर ऐसे विवरणों के आधार पर ही देश में सती नामक 'प्रथा' की परिकल्पना और उसको समाप्त करने की पृष्ठभूमि तैयार की गई।'

रविशंकर आगे लिखते हैं, 'देखा जाए तो भारत में सती कोई 'प्रथा' नहीं थी। यह एक आस्था थी, विश्वास था, जीने का एक तरीका था, चरित्र का उच्चतम मानदंड था। स्त्रियां सती-सावित्री बनना चाहती थीं, परंतु इसके लिए उन्हें पति के साथ मरने की नहीं, वरन जीने की आवश्यकता होती थी। सती होने का अर्थ आग में जलना नहीं होता था। पतिनिष्ठ या पतिव्रता स्त्रियों को ही सती माना जाता था। पति के संकटकाल में भी उनका साथ देने वाली, शारीरिक तप करके पति के संकटों को दूर करने वाली स्त्रियों को सती माना जाता था। इसलिए

सामान्यतः सधवा स्त्रियां ही सती मानी जाती थीं। कहीं-कहीं जो कि गिनती में ऊंगलियों पर गिने जा सकते थे, कुछेक स्त्रियां अपने मृत पति के साथ जल कर सती भी हुईं। परंतु यह आम घटना नहीं थी। प्रथा उसे कहते हैं, जो आमतौर पर सभी करते होंज्ञ मार्को पोलो और अन्य यूरोपीय यात्रियों ने सती होने को एक 'प्रथा' के रूप में लिखा था, इसलिए उसे 'प्रथा' मान लिया गया। हिंदुओं से अभी तक जिनका परिचय भी नहीं था, वे लोग हिंदुओं की प्रथाओं और रिवाजों का निश्चयात्मक वर्णन कर रहे थे।'

रविशंकर, मीनाक्षी जैन द्वारा किए गए शोध का भी उल्लेख करते हैं, 'विजयनगर साम्राज्य की ही भांति मदुरै के राज्य की विधवाओं के सती होने के हैरतअंगेज आंकड़े प्रस्तुत किए जाते हैं। उनकी संख्या डिलन के 400-500 से लेकर विंसेंजो के 11,000 तक जाती है। एक जेसुइट मिशनरी टेकशिरा का दावा था कि वर्ष 1611 में मदुरै के राजा के मरने पर उसकी चार सौ रानियां उसके साथ जलकर सती हो गईं। चूंकि राजाओं के अंतिम संस्कार का कोई लिखित विवरण कहीं नहीं पाया जाता है, इसलिए इन वर्णनों के अफवाहों पर आधारित होने की अधिक संभावना है।'

इसके बाद रविशंकर पिएट्रो डेला वेले द्वारा किए गए एक विवरण को उद्धृत करते हैं, 'नवंबर 16 को मुझे बताया गया कि (उपरोक्त) एक स्त्री, जिसने अपने पति की मृत्यु के बाद स्वयं को जलाने का निर्णय लिया है, आज शाम को मरने वाली है। परंतु उसके घर जाने पर मुझे पता चला कि इसमें अभी कुछ दिन और लगने वाले हैं। मैंने उसे आंगन में देखा। उसके आसपास ढोल बज रहे थे। वह सफेद कपड़ों में थी और सोने के ढेर सारे आभूषण पहने हुए थी। सिर पर फूलों का मुकुट लगाए हुए थी। कुल-मिलाकर वह एक दुल्हन के लिबास में थी और एक हाथ में नींबू लिए हुए थी, जोकि एक रिवाज है। वह काफी खुश थी और और हमारे देश की दुल्हनों की तरह हंस रही थी। पिएट्रो आगे बताता है कि उसने दुभाषिए की सहायता से उस स्त्री, जिसका नाम वह जियाकॉमा बताता है, से काफी बातचीत की। वह बताता है कि उसके पति की दो और भी पत्नियां थीं, जो बच्चों के कारण सती नहीं हो रही थीं। इस स्त्री के भी दो बच्चे थे, परंतु वह बच्चों को उनके चाचा के भरोसे छोड़कर सती होने के लिए तैयार थी।' पिएट्रो के वर्णन के अनुसार, उसने जियाकॉमा को सती होने से रोकने के लिए समझाने की काफी कोशिश की, परंतु वह नहीं मानी।

रविशंकर उपरोक्त वर्णन पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं, 'इस पूरे वर्णन में पिएट्रो ने एक भारतीय स्त्री के दुख को दिखाने का प्रयास किया है। किसी भी भारतीय स्त्री से, वह भी दुल्हन के वेश में सजी हुई, सती होने के लिए तैयार, किसी विदेशी की इतनी लंबी बातचीत हो और वह भी किसी दुभाषिए द्वारा, मनगढ़ंत अधिक प्रतीत होती है, वास्तविक कम। भारत के गांवों में आज भी हम देख सकते हैं कि आमतौर पर स्त्रियां बाहरी लोगों से न्यूनतम बातें करती हैं। पिएट्रो को किसी स्त्री के बारे में किसी ने बात दिया होगा कि वह सती होने वाली है या फिर सती हो गई है। इस पर उसने यह सारी कहानी गढ़ ली।'

इस प्रकार उपरोक्त उद्धरणों से रविशंकर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि, 'यदि हम भारतीय वर्णनों को देखें तो सती होने की कहानियां सामान्यतः क्षत्रिय वंशों की हैं। परंतु इन सभी यात्रियों के वर्णनों में अधिकांश वर्णन निम्न वर्ग की स्त्रियों के हैं। निम्न वर्ग की स्त्रियों में विधवा विवाह कभी भी प्रतिबंधित नहीं रहा है। पिएट्रो ने जिसका वर्णन किया है, वह एक ढोल बजाने वाले की पत्नी थी। विलियम मेटहोल्ड एक सुनार की पत्नी का वर्णन करता है, जिसने सती होने से रोके जाने पर फांसी लगाकर आत्महत्या कर ली थी। डेनिश मिशनरियों ने भी इस बात

को दर्ज किया है कि सती की घटना केवल क्षत्रियों या फिर राजपरिवारों तक सीमित थी। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि जिस कालखंड में यूरोपीय सती का वर्णन कर रहे थे, ठीक उसी काल में पूरे यूरोप में विचहंटिंग (डायनों को पकड़ने) के नाम पर स्त्रियों को जलाए जाने का काम जोरों पर था। इसके बावजूद एक भी यूरोपीय यात्री अपने वर्णनों में विचहंटिंग का उल्लेख नहीं कर रहा है। पोंपा बनर्जी इस पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए लिखती हैं, 'मैं उस मौन से प्रारंभ करना चाहूंगी, जो इस पुस्तक में छाया हुआ है। भारत में विधवाओं को जलाए जाने के यूरोपीय वर्णनों से विचहंटिंग को मिटा देना इस प्रश्न को जन्म देता है। जब सती के साक्षी रहे यूरोपीयों ने विधवाओं को जलते देखा तो उन्होंने एक अपरिचित घटना को समझाने के लिए अपने देश में विचों (डायनों) को जलाए जाने की घटना से उसकी समानता का उल्लेख क्यों नहीं किया?'

यहां ध्यातव्य है कि सती और जौहर मूलतः राजस्थान में प्रचलित थे। प्रमाण के लिए मीनाक्षी जैन कहती हैं कि स्वतंत्रता के बाद से अब तक सती के कुल चालीस मामले प्रकाश में आए हैं, जिनमें से दो-तिहाई राजस्थान से ही आए पर बंगाल से एक भी नहीं। वास्तविकता यह है कि किसी भी सामाजिक कुरीति को समाप्त करने का जब कानून बनता है तब रातोंरात वह कुरीति समाप्त नहीं हो जाती, बल्कि घटने लगती है और लंबे समय के बाद ही पूरी तरह समाप्त होती है। दहेज प्रथा और बाल-विवाह जैसी प्रथाओं पर प्रतिबंध के बावजूद इन प्रथाओं का जारी रहना इसका प्रबल प्रमाण है। सती को लेकर दूसरी बड़ी बात यह है कि सती केवल पश्चिमी भारत और वह भी राजस्थान में प्रचलित थी और वह भी सर्वाधिक संपन्न घरों या राज-परिवारों में। बंगाल में सती बहुप्रचलित रही हो इसका कोई ठोस आधार अभी तक सामने नहीं आया है। मैं स्वयं बिहार का रहने वाला हूं और 1912 तक बिहार, बंगाल का हिस्सा रहा, पर मेरे बहुत पता करने पर भी सती के विषय में मुझे कोई जानकारी नहीं मिली। पर घोर आश्चर्य की बात तो यह है कि विलियम बेंटिंक ने सती समाप्त करने का कानून बनाया और सती प्रथा बंगाल में अचानक समाप्त भी हो गई। उसके बाद से बंगाल में सती होने का प्रमाण भी नहीं मिलता।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सती की समस्या को एक 'प्रथा' के रूप में चित्रित करके वास्तव में ईसाई मिशनरियों ने इसे विकराल बनाया और फिर अंग्रेजों ने स्वयं को ही सती प्रथा को समाप्त करने का श्रेय भी दिया। 1813 में अंग्रेज मिशनरियों को भारत में प्रवेश की अनुमति मिली और उसके सोलह साल बाद ही सती पर प्रतिबंध लगाया गया, जिससे इन ईसाई मिशनरियों का भारत आगमन सार्थक हुआ।

सती प्रथा के विरोध के लिए राममोहन राय ने प्राचीन हिंदू शास्त्रों के उद्धरणों को अपने पक्ष में उद्धृत किया, यह अच्छी बात है। पर सती यदि प्रचलित भी हुई तो किस कारण हुई? इस प्रश्न पर राममोहन राय ने विचार नहीं किया। वास्तव में इसका सर्वप्रमुख कारण था मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा राजपरिवार की महिलाओं का मान-मर्दन। इस तरह के वहशी आक्रमण इससे पहले देखे नहीं गए थे। इसलिए महिलाओं ने अपना बलिदान करना ही श्रेयस्कर समझा। इसी प्रकार सामूहिक आत्मबलिदान का जौहर भी अपनाया गया। यहां ध्यातव्य है कि चाहे वह सती हो, जौहर हो या पर्दा प्रथा ये सब अधिकतर उत्तर भारत में ही प्रचलित थे। दक्षिण भारत में इनके प्रचलन का न के बराबर ही प्रमाण है। इससे बड़ी सहजता से सिद्ध होता है कि जहां मुसलमान आक्रमणकारियों ने सर्वाधिक बर्बरता दिखाई, वहीं ये प्रथाएं चलन में आईं। डॉ बिल वार्नर, जो पिछले दो दशकों से इस्लाम के प्रसार पर अध्ययन कर रहे हैं, का कहना है कि सोलहवीं शताब्दी में मुसलमानों द्वारा किए गए हमलों के बाद भारत की प्रतिष्ठित

महिलाओं ने बलात्कार और सुल्तान की काम-वासना की पूर्ति के लिए उसके हरम में जबरन लिए जाने से बचने के लिए सामूहिक आत्महत्या अर्थात सती की शुरूआत की। यह संभव है कि वार्नर यहां जौहर और सती दोनों को एक साथ मिला रहे हों। पर मुसलमानों की बर्बरता, आत्याचार और अमानवीयता दिखाने और उनके कारण सती, जौहर और पर्दा जैसी प्रथाओं के चलन के लिए मुसलमानों को उत्तरदायी ठहराने में कोई दुविधा नहीं हो सकती।

पर वास्तविक समस्या यह थी कि यदि राममोहन राय ऐसी बातें करते तो विदेशी आक्रमणकारी होने के कारण अंग्रेज भी इस लपेटे में आ जाते। भले ही भारतीय महिलाओं पर वैसा अत्याचार अंग्रेजों ने न किया हो, जैसा कि मुसलमानों ने किया था, फिर भी अंग्रेजों ने हत्या, नरसंहार जैसी बर्बरता रत्ती भर भी कम नहीं की। इसके अतिरिक्त इससे यह भी सिद्ध होता है कि अनेक ऐसी कुरीतियां जिनके लिए हिंदुओं को सारे संसार में बदनाम किया जा रहा था, उनके लिए असल में विदेशी आक्रमणकारी ही उत्तरदायी थे। साथ ही, यह बात भी प्रकाश में आती कि भारतीय महिलाओं ने अपने स्त्रीत्व और भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। अतः यदि राममोहन राय इस प्रकार की बातें करते, तो अंग्रेज उनकी सहायता कदापि नहीं करते। सती को लेकर अंग्रेजों की नीति स्पष्ट थी। उन्हें भारतीय संस्कृति का माखौल उड़ाना था। उन्हें संसार को दिखाना था की हिंदू संस्कृति सड़-गल चुकी है और इसका एकमात्र उपाय है ईसाइयत को अपनाना।

इसके अतिरिक्त क्या राममोहन राय को यूरोपीय विचहंटिंग के बारे में कोई जानकारी नहीं थी? बाइबिल को समझने के लिए तो उन्होंने ग्रीक और हिब्रू सीखी और उसकी समुचित व्याख्या करने के लिए बाइबिल की जर्मन आलोचना भी मंगवाकर पढ़ी। फिर यह विचहंटिंग कैसे उनकी दृष्टि से ओझल हो गई? स्पष्ट है कि विचहंटिंग उनकी प्राथमिकता में नहीं थी। वह तो अंग्रेजों द्वारा परोसे गए ज्ञान को ही अंतिम सत्य मानकर चल रहे थे।

अब हम राममोहन राय ने जो कुछ हिंदू धर्म या सामान्यतः धर्म को लेकर कहा है, उस पर विचार करते हैं। ऊपर हमने देखा कि राममोहन राय का विश्वास था कि मौलिक रूप से सभी धर्म एक ही संदेश देते हैं कि उनके अनुयायी भाई-भाई हैं। क्या यह कथन सही है? क्या सभी धर्म एक ही संदेश देते हैं? परम विद्वान एवं धर्म के मर्मज्ञ शंकर शरण का कहना है कि इस तरह की बातें सामान्यतः धर्मों के मध्य आपसी सौहार्द्र बढ़ाने के उद्देश्य से कही जाती हैं, लेकिन इनका कोई शास्त्रीय आधार नहीं होता। विशेषकर हमारे देश के धर्मों और इब्राहिमी मजहबों के बीच तो सचमुच आकाश और पाताल का अंतर है। इसलिए सभी धर्मों में एक ही सत्य है यह बात इब्राहिमी मजहबों-इस्लाम और ईसाइयत के लिए नहीं कही जा सकतीं। वे अपने को अन्य धर्मों से श्रेष्ठ मानते हैं। उनका उपास्य एकमात्र ईश्वर है और वे ऐसा मानते हैं कि दूसरे धर्म झूठे हैं और इसी कारण मिशनरी भावना जागृत होती है। ये दूसरों को पगान, मूर्तिपूजक, काफिर, अविश्वासी जैसे घृणित नामों से पुकारते हैं, जो वस्तुतः गाली हैं। उन्हें शैतान का अनुयायी मानकर उन्हें अपने मजहबों में शामिल करना अपना दैवीय अधिकार समझते हैं। यदि शब्दार्थ पर विचार करें, तो रिलीजन बांधता है जबकि धर्म मुक्त करता है। इस प्रकार रिलीजन या मजहब एक बंधन है, जबकि धर्म मुक्ति का साधन है। इब्राहिमी ग्रंथ ललकारते हैं; भर्त्सना करते हैं; धमकी देते हैं; उनमें उद्वेग है; ये ग्रंथ आदेश प्रधान हैं; चेतावनी देते हैं; उनमें आवेश है। ये ग्रंथ नर्क का भय और स्वर्ग के सपने दिखाते हैं। दूसरी ओर हिंदू दृष्टि चिंतन-परक है, अनेकांत है, उसके कई मार्ग हैं। अंतर्मुखी है और शांत भाव से आपको निरंतर आगे की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। आपकी चेतना को जागृत और विकसित करने का काम

करते हैं। दोनों के बीच की भिन्नता मौलिक और आधारभूत है। ईश्वर हमारे अंदर है और इसीलिए वह सब जीव में है ईश्वर का संदेश भी सबको प्राप्य है जबकि इब्राहिमी मजहबों में ईश्वर और व्यक्ति के मध्य एक पैगंबर है और बिना उसकी कृपा के आप ईश्वर तक नहीं पहुंच सकते। इसीलिए इब्राहिमी मजहब अंततः व्यक्ति पूजा है। ईसा मसीह को पूजने वाले ईसाई कहलाते हैं और मोहम्मद को पूजने वाले मोहम्मडन कहलाते हैं।

धर्म और मजहब के बीच के मौलिक अंतर पर प्रकाश डालते हुए 'भारतीय संस्कृति' नामक पुस्तक के रचयिता पंडित सातवलेकर लिखते हैं कि ईसाई और मुसलमानी धर्मों में ईश्वर तो हैं, पर ये ईश्वर उन धर्मानुयायियों का मार्गदर्शन नहीं कर सकते, क्योंकि 'नर से नारायण' होने की संभावना भी उन धर्मों में नहीं है। 'मैं ईश्वर बनूंगा' यह ध्येय ही जिन धर्मों में नहीं है, उनमें ईश्वर के गुण और उन गुणों के द्वारा मनुष्यों के मार्गदर्शन का प्रश्न ही उनके मन में उत्पन्न नहीं हो सकता। इन धर्मों के अनुसार ईश्वर है तो सही, पर वह अप्रत्यक्ष है, उसकी आज्ञा का पालन बिना किसी किंतु-परंतु के करना चाहिए। उसके द्वारा प्रेषित प्रतिनिधियों पर विश्वास करना चाहिए, तभी तारण हो सकता है। यह एक प्रकार की मानसिक गुलामी इन धर्मों में है। इसके अतिरिक्त इतर धर्मों का घोषणापत्र ही यह है कि 'हमारे धर्मों में आओ, दूसरे के धर्मों में मत जाओ।' इस प्रकार धर्मांतरण एक ऐसा तत्व है जो धर्म और मजहब को पास भी नहीं आने देता। असल में धर्म शिकार है और मजहब शिकारी।

अपने ब्रह्म समाज के लिए राममोहन राय ने व्यवस्था दी कि इसमें अन्य धर्मों की शिक्षाओं को भी समाहित करना है। अब देखिए कि ऐसे घालमेल से क्या निकलता? इस संदर्भ में पंडित सातवलेकर का स्पष्ट मत है कि धर्मों के साथ इस प्रकार का घालमेल अच्छा परिणाम नहीं देता। इससे पूर्व गुरु नानक ने हिंदू और मुसलमानी संस्कृति को मिलाने का बड़ा प्रयत्न किया, पर वे भी इस दिशा में असफल ही रहे। हुआ यूं कि हिंदू सिख बन गए पर थोड़े से भी मुसलमान सिख नहीं बने, जबकि नानक का उद्देश्य था कि हिंदू और मुसलमान दोनों को मिलाकर एक ऐसे स्थान पर ले आएं जहां वे दोनों एक जैसे हो जाएं। पर जैसा कि स्पष्ट है ऐसा हुआ नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राममोहन राय को हिंदू धर्म की महानता का भान नहीं था। उन्हें भारतीय शिक्षा प्रणाली की भी समुचित समझ नहीं थी। यह वह भारत था जिसके कई हिस्सों की साक्षरता दर 1881 में भी अर्थात राममोहन राय की मृत्यु की आधी शताब्दी बाद भी यूरोप की साक्षरता दर के बराबर थी या उससे ऊपर। धर्म के विषय में इसकी स्थिति अतुलनीय थी। तभी तो स्वामी विवेकानंद ने ईसाई मिशनरियों को संबोधित करते हुए कहा था कि भारत में धर्म की प्रचुरता है। कमी है तो धन-धान्य की। यदि आप देना चाहते हैं तो धन-धान्य दीजिए, धर्म नहीं। परंतु ईसाई मिशनरी तो धर्म देने पर ही आमादा थे और आज भी हैं। राममोहन राय की समस्या यह है कि उनका ईसाई मिशनरियों से बड़ा घनिष्ठ संबंध-संपर्क रहा। चाहे विलियम केरी हो या अलेक्जेंडर डफ दोनों से उनका घनिष्ठ संबंध रहा, जबकि दोनों का उद्देश्य भारतीयों को ईसाई बनाना था। राममोहन राय ने तो लिख-लिखकर मिशनरियों को ईसा के ऐसे उपदेश दिए, जो भारतीयों में लोकप्रिय हो सकते थे। इस प्रकार राममोहन राय स्वयं एक ईसाई मिशनरी जैसे हो गए। अपने इंग्लैंड प्रवास के दौरान एक बार भी उन्होंने खुलकर नहीं कहा कि वह ईसाई नहीं हैं। बल्कि उन्होंने इस प्रकार के व्यवहार किए, जिससे साफ जाहिर हो कि वह ईसाई ही हैं। इंग्लैंड में उनके विरोधियों ने यह बात चलाई कि राममोहन राय अंग्रेजों के साथ अपनी जाति के भ्रष्ट होने के डर से भोजन नहीं करते और न ही उन्होंने अपना नाम ही बदला है,

इसलिए हम कैसे उन्हें ईसाई मानें? फिर भी उनके पक्षधरों ने इन बातों पर ध्यान नहीं दिया और उलटे प्रश्न किया कि आप साबित करें कि राममोहन राय ईसाई नहीं हैं। उन्होंने यहां तक कहा कि यूनिटेरियन चर्च इतना उदार है कि ऐसी बातों पर ध्यान नहीं देता।

कुल-मिलाकर राममोहन राय का जो चित्र हमारे सामने उभरकर आता है, वह कुछ इस प्रकार है। राममोहन राय ने ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी की। वह अंग्रेजों के परम आज्ञाकारी सेवक की तरह ही जीवन पर्यन्त रहे। जीवन के अंत में वह इंग्लैंड गए, जहां उन्हें एक ईसाई के रूप में सर-माथे पर बिठाया गया। वहीं वह अपने शुभचिंतकों के समर्थन से संसद सदस्य बनने के लिए जी-जान से लग गए। ईसाई होना संसद सदस्य बनने की एक अर्हता थी और राममोहन राय ने बड़ी कुशलता से स्वयं को एक ईसाई के रूप में प्रस्तुत किया। ढाई वर्ष के इंग्लैंड प्रवास के दौरान कोई ऐसा ठोस काम प्रकाश में नहीं आया, जिससे भारत लाभान्वित होता। अंततः उनकी मृत्यु के बाद उनके शव को ईसाइयों की कब्रगाह में दफनाया गया। उनकी कब्र पर जो लिखा है, उससे पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें ईसाई मानकर ही दफनाया गया –

'Beneath this stone rest the remains of Raja Rammohun Roy Bahadoor, A conscientious and steadfast believer in the Unity of the Godhead, He consecrated his life with entire devotion to the Worship of the Divine Spirit alone, To create natural talents, he united through mastery of many languages, And early distinguished himself as one of the greatest scholars of the day.

His unwearied labours to promote the social, moral and physical condition of the people of India, His earnest endeavours to suppress idolatry, and the rite of suttee and his constant zealous advocacy of whatever tended to advance the glory of God and the welfare of man life in the grateful remembrance of his countrymen.'

'Unity of the Godhead' बाइबिल की शब्दावली है, जिसका अर्थ होता है कि ट्रिनिटी असल में एक ही ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। यह यूनिटेरियन चर्च का संभवतः सूत्र वाक्य है। आगे यह भी लिखा है कि राममोहन राय ने अपने उत्साही प्रयत्नों से मूर्तिपूजा का दमन या शमन किया। अब बताइए ऐसी बातों से ईसाई मिशनरी कितने प्रसन्न होते होंगे !

पश्चिमी शिक्षा के प्रति उनके मोह ने भारत की पारंपरिक शिक्षा की रीढ़ तोड़ दी और अंततः पूरा देश अंग्रेजी तोता बनकर रह गया। हमारे समाज में इसी कारण एक ऐसा वर्ग उभरा जिसे आज भी भारत में केवल कमी ही कमी दिखाई देती है। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वाभिमान का भाव पूरी तरह जागृत नहीं हो पाया। श्री अरविन्दो का कहना है कि शिक्षा का मूल उद्देश्य होना चाहिए राष्ट्रीयता की भावना को पैदा करना और उसे बढ़ाना। राममोहन राय ने हमारी दृष्टि में ठीक इसके उलट काम किया।

उपरोक्त के आलोक में यह आवश्यक है कि पाठ्यपुस्तकों में राममोहन राय के विषय में पूरी जानकारी दी जाए, जिससे पाठक स्वयं निर्णय कर सकें कि राममोहन राय का इस देश के निर्माण में कितना और कैसा योगदान है।

संदर्भ :

1. विपिन चंद्र (संपादक), 'आधुनिक भारत' कक्षा 12 के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक, एनसीईआरटी

2. हमारे अतीत - III, भाग 2, कक्षा 8 के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक, 2008

3. राजीव मल्होत्रा और मीनाक्षी जैन, 'Truth about Sati,' 6 जुलाई 2017, Youtube

4. विलियम डैलरिंपल, 'आखरी मुगल,' 2015

5. पंडित श्री दा. सातवलेकर, 'भारतीय संस्कृति,' उषा प्रकाशन, 1969

6. शंकर शरण, Dharma vs Religion, 2019, Youtube.

7. Dr. Bill Warner, 'Why We Are Afraid, A 1400 Year Secret,' v September 2012, Youtube.

8. Rajiv Malhotra, 'Rammohan Roy & Decline of Sanskrit,' 30 May 2019, Youtube.

9. Lynn Zastoupil, 'Defining Christians, Making Britons' Rammohun Roy and the Unitarians,Ó Victorian Studies, Vol. 44, No. 2 (Winter, 2002), pp. 215-243.

10. Our India, Balmiki Prasad Singh, NCERT, 2011, p.y What Is Unitarianism? Discover the History and Beliefs of the Unitarian Church, https ://www.english-heritage.org.uk/learn/story-of-england/victorian/religion/

11. Brannon Deibert, https://www.christianity.com/church/denominations/what-is-unitarianism-discover-the-history-and-beliefs-of-the-unitarian-church.html

12. रवि शंकर, 'भारत में यूरोपीय यात्री : उद्देश्य, वर्णन और यथार्थ,' प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 2018

सभ्यता संवाद

सदस्यता–प्रपत्र

मेरी प्रति कूरियर रजिस्टर्ड डाक द्वारा इस पते पर प्रेषित की जाए :

नाम ____

पता ____

_____________________________________ पिन _______________________

दूरभाष/मोबाइल ____

ईमेल ____

सदस्यता शुल्क

व्यक्तिगत : वार्षिक सदस्यता शुल्क 500/– पाँच वर्षीय सदस्यता शुल्क 2500/–

संस्थागत : वार्षिक सदस्यता शुल्क 1000/– पाँच वर्षीय सदस्यता शुल्क 5000/–

संलग्न मनीऑर्डर चेक डिमाण्ड ड्राफ्ट

चेक/ड्राफ्ट–क्रमांक.................. बैंक का नाम.................. शाखा.............. दिनांक...........

ऑनलाइन भुगतान कर सकते हैं :

Centre for Civilisational Studies
Bank Name : ICICI
A/c No. 022705001874
IFSC Code : ICIC0000227

हस्ताक्षर एवं दिनांक

वर्ष 2, अंक 1, आश्वनि–कार्तिक–मार्गशीर्ष, 5121 कलि. : जनवरी–फरवरी–मार्च, 2020 ई.

लेखकों से निवेदन

सभ्यता–संवाद एक त्रैमासिक शोध पत्रिका है। इसमें हिंदी भाषा में उच्च कोटि के अनुसंधानात्मक, आलोचनात्मक तथा समीक्षात्मक शोध–निबंध प्रकाशित किए जाते हैं। लेख प्रेषित करने से पूर्व निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना आवश्यक हैः

- कृपया मौलिक, अप्रकाशित, अप्रसारित निबंध भेजें। आपका लेख पहले से वेब पर किसी भी वेबसाइट या ब्लॉग आदि में प्रकाशित नहीं होना चाहिए। निबंध के शीर्षक के उपर मौलिक एवं अप्रकाशित अवश्य लिखें।
- सभ्यता संवाद के लिए भेजे जाने वाले निबंध 2500 शब्दों से कम न हों, अधिकतम शब्द सीमा 5000 है। व्यक्तिगत स्तंभ के लिए भेजे जाने वाला लेख 2000 शब्दों से अधिक का न हो।
- कृपया अपने लेख में संदर्भ अंकित करने के मानकों का पालन करें। संदर्भ देते समय पुस्तक/पत्रिका का नाम, लेखक/सम्पादक का नाम, प्रकाशक का नाम–स्थान, प्रकाशन वर्ष का उल्लेख होना आवश्यक है।
- पत्रिका के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए आपके लेख का शीर्षक बदलने, वाक्यांशों, अनुच्छेदों में परिवर्तन करने अथवा इसमें सम्पादन करने का अधिकार सम्पादक मण्डल के पास है।
- आपके शोध–निबंध को पत्रिका में प्रकाशित करने या न करने के बारे में अंतिम निर्णय संपादक–मण्डल का ही होगा। स्वीकृत रचनाओं के प्रकाशन में एक से ती अंकों का समय लग सकता है। अस्वीकृत रचनाओं के विषय में पत्र व्यवहार नहीं किया जाता है।
- कृपया अपना निबंध यथासंभव टंकित करके अथवा सुपाठ्य अक्षरों में हस्तलिखित शोधपत्र रवि शंकर, सम्पादक, सभ्यता संवाद, बी 14, गली नं. 13 वजीराबाद गॉव, दिल्ली–110084 पते पर प्रेषित करें। सॉफ्ट कॉपी sabhyatasamvad@gmail.com पर ईमेल अवश्य करें। सॉफ्ट कॉपी में लेख मंगल यूनिकोड अथवा कृतिदेव–010 फॉण्ट में टाइप किया हुआ होना चाहिए।
- कहानी, लघुकथा, कविताएं, प्रहसन, प्रेरक–प्रसंग, संस्मरण, हास्य–व्यंग्य, आत्मकथा, डायरी, आलोचना, यात्रा वृत्तान्त न भेजें।
- पुस्तक समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना अनिवार्य है। पुस्तक की समीक्षा, पत्रिका द्वारा अपने स्तर पर करवाकर प्रकाशित की जायेगी, अतः समीक्षा साथ न भेजें। पुस्तक–समीक्षा के लिए पत्रिका के अगले दो अंकों से पूर्व पत्र–व्यवहार न करें।
- प्रथम बार लेख भेजने वाले लेखक कृपया अपना पूरा परिचय एवं चित्र भी संल्पन करें।

सभ्यता अध्ययन केंद्र
वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः

सभ्यता अध्ययन केन्द्र

बी14, गली. नं. 13, वजीराबाद गांव, दिल्ली–110084 दूरभाष : 9899588033, 9654669293,
ई मेल : sabhyatasamvad@gmail.com www.civilisationalstudies.org

फेसबुक : https://www.facebook.com/sabhyatasamvad/